

उच्च शिक्षा ने स्वतंत्र भारत के आर्थिक विकास, सामाजिक प्रगति और राजनीति लोकतंत्र को आगे बढ़ाने में उल्लेखनीय योगदान किया है। लेकिन इस समय चिंता का एक गंभीर कारण है। उच्च शिक्षा में प्रवेश करने वाले आयु वर्ग का हमारी जनसंख्या में अनुपात लगभग 7 प्रतिशत है। विश्वविद्यालयों में स्थानों की संख्या की दृष्टि से उच्च शिक्षा पाने के अवसर हमारी आवश्यकताओं के हिसाब से बिल्कुल पर्याप्त नहीं है। हमारे आबादी के बहुत बड़े हिस्से को उच्च शिक्षा की कोई सुविधा सुलभ नहीं है। इतना ही नहीं हमारे अधिकतर विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा का स्तर अपेक्षा से बहुत कम है।

नींव का मजबूत होना बेहद ज़रूरी है। राष्ट्रीय ज्ञान आयोग का मानना है कि हमारी स्कूल व्यवस्था का विस्तार करना और उसमें सुधार करना बेहद ज़रूरी है ताकि हर बच्चे को उच्च शिक्षा की दुनिया में कदम रखने के बराबर अवसर मिल सके। राष्ट्रीय ज्ञान आयोग स्कूली शिक्षा के बारे में विचार-विमर्श कर रहा है और यथा समय पर इस महत्वपूर्ण क्षेत्र के बारे में अपनी सिफारिशें देगा। फिलहाल आयोग इस सिफारिश में उच्च शिक्षा के बारे पर बल दे रहा है।

राष्ट्रीय ज्ञान आयोग ने इस बारे में उच्च शिक्षा से जुड़े विभिन्न व्यक्तियों के साथ औपचारिक और अनौपचारिक विचार-विमर्श किया है। इसके अलावा इसने संसद, सरकार, समाज और उद्योग में संबद्ध व्यक्तियों के साथ भी परामर्श किया है। उच्च शिक्षा व्यवस्था को लेकर सब चिंतित हैं। सबका एक मत से यह स्पष्ट मानना है कि उच्च शिक्षा में आमूलचूल बदलाव की ज़रूरत है ताकि हम शिक्षा का स्तर गिराए बिना कहीं अधिक संख्या में विद्यार्थियों को शिक्षा दे सकें। ऐसा करना विशेष रूप से आवश्यक है, क्योंकि 21वीं शताब्दी में अर्थव्यवस्था और समाज का बदलाव काफी हद तक हमारे लोगों में शिक्षा के क्षेत्र में उसकी क्वालिटी, खासकर उच्च शिक्षा के प्रसार और उसकी क्वालिटी पर निर्भर करता है। सबको समाहित करने वाला समाज ही एक ज्ञानवान समाज की बुनियाद की व्यवस्था कर सकता है।

हमारी उच्च शिक्षा व्यवस्था में सुधार और बदलाव का लक्ष्य विस्तार, उत्कृष्टता और सबको शामिल करने का होना चाहिए। राष्ट्रीय ज्ञान आयोग मानता है कि व्यवस्था में दीर्घकालिक दृष्टि से सार्थक सुधार कर पाना जटिल भी है और मुश्किल भी। इसके बावजूद यह बहुत आवश्यक है।

क. विस्तार

- 1. अधिक विश्वविद्यालयों की स्थापना करना:** उच्च शिक्षा व्यवस्था में अवसरों को बड़े पैमाने पर बढ़ाना ज़रूरी है। देश भर में करीब 1500 विश्वविद्यालय होने चाहिए, तभी भारत सन् 2015 तक कम-से-कम 15 प्रतिशत का सकल भर्ती अनुपात हासिल कर सकेगा। सारा ध्यान नए विश्वविद्यालयों पर होना चाहिए, लेकिन संबद्ध कॉलेजों के कुछ समूहों को मिलाकर भी विश्वविद्यालय बनाए जा सकते हैं। ऐसे विस्तार के लिए नियमों के ढाँचे में बड़ा बदलाव करना होगा।
- 2. उच्च शिक्षा के लिए विनियमन का ढाँचा बदलना:** उच्च शिक्षा के बारे में वर्तमान विनियमन व्यवस्था में कुछ महत्वपूर्ण कमियाँ हैं। प्रवेश में बाधाएँ बहुत अधिक हैं। प्रवेश देने की व्यवस्था बहुत जटिल है। एक से अधिक विनियमन एजेंसियाँ हैं और उनके निर्देश भ्रमित करने वाले तथा एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। पूरी व्यवस्था पर लागू नियम बहुत अधिक हैं, पर उनका नियंत्रण बहुत कम है। राष्ट्रीय ज्ञान आयोग समझता है कि उच्च शिक्षा के लिए एक स्वतंत्र विनियमन प्राधिकरण (आईआरएएचई) की स्थापना बेहद आवश्यक है। यह प्राधिकरण सरकार से एकदम अलग होना चाहिए और सरकार के संबंधित मंत्रालयों सहित सभी हितधारकों के प्रभाव से मुक्त होना चाहिए:
 - उच्च शिक्षा के लिए स्वतंत्र विनियमन प्राधिकरण की स्थापना संसद के कानून के तहत होनी चाहिए। उसे प्रवेश के नियम बनाने और उस बारे में निर्णय करने का अधिकार होना चाहिए।
 - उच्च शिक्षा संस्थानों को डिग्री देने का अधिकार प्रदान करने की अनुमति देने वाली यह अकेली एजेंसी होनी चाहिए।
 - मानकों की निगरानी और विवादों के निपटान की ज़िम्मेदारी उसकी होनी चाहिए। यह प्राधिकरण सार्वजनिक और निजी संस्थानों पर समान नियम उसी तरह लागू करेगा, जिस तरह घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों पर समान नियम लागू किए जाते हैं।
 - उसे प्रमाणीकरण एजेंसियों को लाइसेंस देने का अधिकार होगा।
 - विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की भूमिका को फिर से परिभाषित किया जाना चाहिए ताकि उसमें

उच्च शिक्षा में सार्वजनिक संस्थानों को अनुदान देने और उनकी देखभाल पर ध्यान दिया जा सके। एआईसीटीई, एमसीआई और बीसीआई के प्रवेश विनियमन संबंधी कार्यकलाप उच्च शिक्षा के बारे में स्वतंत्र विनियमन प्राधिकरण को करने चाहिए ताकि उनकी भूमिका पेशेवर एसोसिएशनों तक सीमित रह जाए।

3. सार्वजनिक खर्च बढ़ाना और वित्त के स्रोतों में

विविधता लाना: उच्च शिक्षा की हमारी व्यवस्था का विस्तार तब तक कि संभव नहीं है, जब तक उसके लिए धन की व्यवस्था का स्तर न बढ़ाया जाए। धन की व्यवस्था सार्वजनिक और निजी दोनों स्रोतों से होने चाहिए।

- सरकार से मिलने वाला धन हमेशा बुनियादी आधार रहेगा, इसलिए उच्च शिक्षा के लिए सरकारी सहायता सकल घरेलू उत्पाद के कम से कम 6 प्रतिशत में से शिक्षा के लिए सकल घरेलू उत्पाद की कम से कम डेढ़ प्रतिशत कर दी जानी चाहिए।
- धन की इतनी मात्रा भी उच्च शिक्षा के लिए आवश्यक बड़े पैमाने पर विस्तार का खर्च पूरा नहीं कर पाएगी। इसके लिए बढ़ते सार्वजनिक खर्च की पूर्ति कर सकने वाली अन्य संभावनाओं का पता लगाया जाना चाहिए।
- अधिकांश सार्वजनिक विश्वविद्यालयों के पास ज़मीन के रूप में संसाधनों का बड़ा भंडार है। विश्वविद्यालयों को इस ज़मीन से पैसा जुटाने की अनुमति देने के लिए नियम और मापदंड तय किए जाने चाहिए।
- फीस का स्तर तय करना विश्वविद्यालयों का काम है, लेकिन नियम के रूप में फीस इतनी होनी चाहिए कि विश्वविद्यालयों के कुल खर्च के कम से कम 20 प्रतिशत की पूर्ति करें। इसकी दो शर्तें होनी चाहिए; पहली शर्त के मुताबिक ज़रूरतमंद बच्चों को फीस से माफी के साथ-साथ अपनी लागत निकालने के लिए छात्रवृत्तियाँ; दूसरे विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा के लिए जो संसाधन जुटाए हैं उनके कारण विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को अपनी अनुदान सहायता में से बराबर की कटौती की सज़ा उन्हें दी जानी चाहिए।
- भारत को विश्वविद्यालयों और दाताओं के लिए प्रोत्साहनों में फेर-बदल की व्यवस्था के जरिए परोपकार की परंपरा को बढ़ावा देना चाहिए। फिलहाल कर कानून और ट्रस्ट कानून दोनों ही इसे लिए हतोत्साहित करते हैं। इन कानूनों में

बदलाव किया जाना चाहिए ताकि विश्वविद्यालय अपनी पसंद के वित्तीय साधनों में निवेश कर सकें और अपने न्यासों से होने वाली आमदनी का उपयोग एक कोष बनाने के लिए कर सकें।

- विश्वविद्यालयों को पूर्व विद्यार्थियों के योगदान और लाइसेंसिंग फीस जैसे अन्य साधनों का भी पता लगाने का प्रयास करना चाहिए। ऐसे सहायक संस्थागत तंत्र की स्थापना की जानी चाहिए, जो विश्वविद्यालयों को इस काम के लिए पेशेवर कंपनियों का सहयोग लेने की अनुमति दे।
- शिक्षा के अवसर बढ़ाने के साधन के रूप में शिक्षा में निजी निवेश बढ़ाना बहुत आवश्यक है। निजी निवेश (मुनाफे के लिए नहीं) को और अधिक आकर्षित करने के लिए, खासकर भूमि अनुदान के रूप में, सार्वजनिक संसाधनों का लालच भी दिया जा सकता है।

4. 50 राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों की स्थापना करना:

राष्ट्रीय ज्ञान आयोग उच्चतम स्तर की शिक्षा दे सकने वाले 50 राष्ट्रीय विश्वविद्यालय स्थापित करने की सिफारिश करता है। इन विश्वविद्यालयों को बाकी देश के लिए मिसाल बनना चाहिए। इनमें विद्यार्थियों को मानविकी, समाज विज्ञान, मूल विज्ञानों, वाणिज्य और पेशेवर विषयों सहित विभिन्न विषयों में स्नातक और स्नातकोत्तर दोनों स्तरों पर प्रशिक्षण देना चाहिए। 50 का यह आँकड़ा दीर्घकालिक लक्ष्य है। अगले तीन वर्ष में कम-से-कम दस ऐसे विश्वविद्यालय स्थापित करना महत्वपूर्ण है। राष्ट्रीय विश्वविद्यालय दो तरीके से स्थापित किए जा सकते हैं। उन्हें या तो सरकार स्थापित करे या फिर कोई निजी प्रायोजक संस्था कोई सोसाइटी, परोपकारी ट्रस्ट या धारा-25 के अंतर्गत कंपनी बनाकर यह काम कर सकती है।

चूंकि दुनिया भर में विश्वविद्यालयों के संचालन के लिए सार्वजनिक धन बेहद महत्वपूर्ण होता है। अतः अधिकतर नए विश्वविद्यालयों को शुरू में सरकार की ओर से काफी वित्तीय मदद की ज़रूरत होगी। प्रत्येक विश्वविद्यालय को उसकी स्थान की ज़रूरतों से फालतू सार्वजनिक भूमि का आवंटन किया जाना चाहिए। फालतू भूमि बाद में आमदनी पैदा करने का स्रोत बन सकती है। बड़े ट्रस्टों को प्रोत्साहित करने के लिए विद्यमान आयकर कानूनों में छूट दी जानी चाहिए। इतना ही नहीं किसी भी अवधि में आमदनी के इस्तेमाल या उपयुक्त वित्तीय साधन के इस्तेमाल पर कोई पाबंदी नहीं होनी चाहिए। इन विश्वविद्यालयों को विद्यार्थियों की फीस का स्तर तय करने और आमदनी

के दूसरे साधनों का उपयोग करने के लायक स्वायत्ता प्राप्त होनी चाहिए।

राष्ट्रीय ज्ञान आयोग का प्रस्ताव है कि राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की भर्ती अखिल भारतीय स्तर पर की जाए। वे आवश्यकता से बँधे दाखिले का सिद्धांत अपनाएँगे। इसके लिए ज़रूरतमंद बच्चों की मदद के लिए छात्रवृत्तियों की व्यापक व्यवस्था की ज़रूरत होगी। राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों में तीन वर्ष के कार्यक्रम के अंतर्गत अवर स्नातक डिग्री विभिन्न पाठ्यक्रमों में अपेक्षित संख्या में प्राप्त अंकों के बाद दी जानी चाहिए। अतः शिक्षा वर्ष में सेमिस्टर की व्यवस्था होगी और हर कोर्स के अंत में शिक्षक ही अपने विद्यार्थियों का मूल्यांकन करेंगे। एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय से दूसरे राष्ट्रीय विश्वविद्यालय को अंकों का हस्तांतरण करना संभव हो सकेगा। इन राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों में शिक्षकों की क्षमता को अधिकतम स्तर पर लाने के लिए नियुक्ति और प्रोत्साहनों की उपयुक्त व्यवस्था की आवश्यकता है। शिक्षण और अनुसंधान, विश्वविद्यालयों और उद्योग तथा विश्वविद्यालयों और अनुसंधान प्रयोगशालाओं के बीच मज़बूत संबंध स्थापित किये जाने चाहिए। राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों में अलग-अलग विभाग होंगे, लेकिन वे किसी कॉलेज को मान्यता नहीं देंगे।

ख. उत्कृष्टता

5. **मौजूदा विश्वविद्यालयों में सुधार:** उच्च शिक्षा में बदलाव लाने के प्रयासों के अंतर्गत मौजूदा संस्थानों में सुधार करना ज़रूरी है। कुछ आवश्यक कदम हैं:

- विश्वविद्यालयों को कम-से-कम 3 वर्ष में एक बार अपने पाठ्यक्रम में संशोधन और फेर-बदल करना ज़रूरी होना चाहिए।
- समझ के बजाय याददाश्त का इम्तहान लेने वाली वार्षिक परीक्षाओं के साथ-साथ लगातार भीतरी आकलन भी होना चाहिए, जिसकी शुरुआत कुल अंकों के 25 प्रतिशत भार से करने के बाद निर्धारित अवधि में इसे 50 प्रतिशत तक बढ़ाया जा सकती है।
- राष्ट्रीय ज्ञान आयोग का प्रस्ताव है कि धीरे-धीरे एक कोर्स क्रेडिट प्रणाली अपनाई जानी चाहिए, जिसमें डिग्री अलग-अलग पाठ्यक्रमों में निर्धारित संख्या में क्रेडिट पाने के आधार पर दी जाए। इससे विद्यार्थियों को विभिन्न विकल्प मिल सकेंगे।
- विश्वविद्यालयों में एक बार फिर अनुसंधान को बढ़ावा दिया जाना चाहिए ताकि एक-दूसरे की पूर्ति करने वाले शिक्षण और अनुसंधान प्रयासों के बीच सामंजस्य हो सके। इसके लिए नीतिगत उपायों

के साथ-साथ संसाधनों के आवंटन, पुरस्कार प्रणाली और सोच में भी बदलाव आवश्यक है।

- कार्य की बेहतर परिस्थितियों और निष्पादन के लिए प्रोत्साहनों के जरिए प्रतिभावान शिक्षकों को आकर्षित करने और उन्हें विश्वविद्यालयों में बनाए रखने के लिए सोच-समझ कर प्रयास किए जाने चाहिए।
- विश्वविद्यालयों के लिए संसाधनों के आवंटन के मापदंडों के अन्तर्गत वेतन या पेंशन की व्यवस्था और रख-रखाव, विकास या निवेश की आवश्यकता के बीच बेहतर संतुलन रखना चाहिए। उसे उत्कृष्टता को बढ़ावा देने के लिए कम-से-कम आवश्यक मानकों और महत्वपूर्ण विकल्पों का महत्व समझना चाहिए।
- सिखाने, सीखने की प्रक्रिया के लिए आवश्यक सुविधाओं, जैसे, पुस्तकालय, प्रयोगशाला और कनेक्टिविटी की लगतार निगरानी करना और उसमें सुधार करना आवश्यक है।
- विश्वविद्यालयों के प्रबंध के मौजूदा ढाँचे में सुधार की बहुत अधिक आवश्यकता है, क्योंकि यह ढाँचा न तो स्वायत्ता की रक्षा करता है और न ही जवाबदेही को बढ़ावा देता है। बहुत कुछ किया जाना बाकी है, लेकिन दो महत्वपूर्ण बातों का जिक्र करना उचित होगा। सरकार को कुलपतियों की नियुक्तियों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दखल देना बंद कर देना चाहिए। यह काम तलाश की प्रक्रियाओं और उच्च कोटि के निर्णय पर आधारित होना चाहिए। यूनिवर्सिटी कोर्ट्स, विद्वत् परिषदों और कार्यकारी परिषदों के आकार और संरचना पर सबसे पहले फिर से गौर किया जाना चाहिए, क्योंकि इनके कारण निर्णय लेने की प्रक्रिया धीमी होती है और कभी-कभी यह बदलाव में रुकावट बन जाते हैं।
- ऐसे छोटे विश्वविद्यालय स्थापित करने की आवश्यकता है जो बदलाव के अनुकूल हों और जिनका प्रबंध करना आसान हो।

6. **अवर स्नातक कॉलेजों का ढाँचा बदलना:** अवर स्नातक स्तर की शिक्षा के लिए विश्वविद्यालयों से कॉलेजों को संबद्ध करने की व्यवस्था 50 वर्ष पहले भले ही उचित रही हो, लेकिन आज यह न तो उपयुक्त है और न ही उचित। इसे बदलना होगा। विश्वविद्यालयों से संबद्ध अवर स्नातक स्तर के कॉलेजों की व्यवस्था में फेर-बदल करना तत्काल ज़रूरी है।

- इसका सबसे सहज समाधान कॉलेजों को अलग-अलग कॉलेज या कॉलेजों के समूह के रूप

में निर्धारित नियमों के अनुसार स्वायत्ता प्रदान करना है। तथापि इससे सीमित अनुपात में अवर-स्नातक कॉलेजों की समस्या का समाधान होगा।

- इनमें से कुछ संबद्ध कॉलेजों को सामुदायिक कॉलेज का रूप दिया जा सकता है, जिनमें व्यावसायिक और औपचारिक दोनों तरह की शिक्षा दी जा सकती है।
- एक केन्द्रीय अवर-स्नातक शिक्षा बोर्ड के साथ-साथ राज्य अवर-स्नातक शिक्षा बोर्डों की स्थापना की जानी चाहिए। ये बोर्ड पाठ्यक्रम तय करेंगे और अपने से जुड़ने वाले अवर-स्नातक कॉलेजों के लिए परीक्षा का संचालन करेंगे। ये बोर्ड शिक्षा के कामकाज को प्रशासनिक कामकाज से अलग कर देंगे और साथ ही क्वालिटी की मिसाल भी कायम करेंगे।
- नए अवर-स्नातक कॉलेजों को सामुदायिक कॉलेजों के रूप में स्थापित किया जा सकता है और उन्हें केन्द्रीय अवर-स्नातक शिक्षा बोर्ड या राज्य अवर-स्नातक शिक्षा बोर्ड या किसी नए स्थापित विश्वविद्यालय से संबद्ध किया जा सकता है।

7. क्वालिटी सुधारने को बढ़ावा देना: उच्च शिक्षा व्यवस्था को समाज के प्रति और स्वयं अपने प्रति जवाबदेह होना चाहिए। जवाबदेही बढ़ाने में ऐसी उच्च शिक्षा व्यवस्था के विस्तार की मुख्य भूमिका होगी, जो विद्यार्थियों को विकल्प दे और संस्थाओं के बीच स्पर्धा पैदा करे।

- सभी शिक्षा संस्थाओं के लिए यह अनिवार्य किया जाना चाहिए कि वे अपनी वित्तीय स्थिति, भौतिक संपत्तियों, प्रवेश के नियमों, शिक्षकों के पदों, शैक्षिक पाठ्यक्रम की सूचना के अलावा अपने प्रमाणीकरण के स्रोत और स्तर के बारे में पूरी जानकारी दें।
- विद्यार्थियों द्वारा पाठ्यक्रमों और शिक्षकों के मूल्यांकन के साथ-साथ शिक्षकों द्वारा शिक्षकों के मूल्यांकन को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।
- बुनियादी सुविधाओं में सुधार, शिक्षक प्रशिक्षण में सुधार और पाठ्यक्रम तथा परीक्षा व्यवस्था के निरंतर आकलन पर ध्यान दिया जाना चाहिए।
- संचार सूचना टेक्नॉलॉजी के बुनियादी ढाँचे को बढ़ाना विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। वेबसाइट्स और वेब आधारित सेवाएँ पारदर्शिता और जवाबदेही बढ़ाएँगी। उच्च शिक्षा और अनुसंधान के बारे में एक पोर्टल बनाने से परस्पर संवाद और सुलभता बढ़ सकेगी। ज्ञान का नेटवर्क सभी विश्वविद्यालयों और कॉलेजों को ऑन लाइन खुले संसाधनों के लिए आपस में जोड़ देगा।

- प्रतिभावान शिक्षकों को आकर्षित करने और उन्हें विश्वविद्यालयों में रोके रखने के लिए अन्य साधनों के साथ-साथ विश्वविद्यालयों के भीतर और उनके बीच वेतन भिन्नता के मुद्दे पर दोबारा सोचना आवश्यक हो सकता है। विश्वविद्यालयों के बीच और उनके भीतर वेतन में इस तरह की भिन्नता बहुत अधिक न होते हुए भी असरदार हो सकती है। भारत में विदेशी संस्थानों के प्रवेश और विदेशों में भारतीय संस्थानों के प्रसार के लिए उपयुक्त नीति बनाना आवश्यक है। ऐसा करते समय देश के भीतर विदेशी और घरेलू संस्थानों को समान स्तर सुनिश्चित करना आवश्यक है।
- उच्च शिक्षा व्यवस्था में इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि उच्च शिक्षा की किसी भी व्यवस्था में विविधता और बहुलता तो होती ही है, इसलिए सब पर एक समान नीति लागू करने से बचना चाहिए। इस तरह की विविधता और अंतर की उपेक्षा करने या उससे बचने की बजाय बहुलता की भावना को समझना चाहिए।

ग. सबको शामिल करना

8. सभी योग्य विद्यार्थियों को शिक्षा सुलभ कराना: अधिक अवसरों की रचना के माध्यम से शिक्षा समाज में सबको शामिल करने के लिए एक बुनियादी तंत्र है। अतः यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि किसी भी विद्यार्थी को वित्तीय कठिनाई के कारण उच्च शिक्षा पाने के अवसरों से वंचित न रहना पड़े। इसके लिए राष्ट्रीय ज्ञान आयोग निम्नलिखित उपायों का प्रस्ताव करता है:

- उच्च शिक्षा संस्थानों को आवश्यकता से बँधी प्रवेश नीति अपनाने के लिए बढ़ावा देना चाहिए। ऐसी नीति के अंतर्गत किसी भी विद्यार्थी को प्रवेश देने या न देने का निर्णय लेते समय उसकी वित्तीय स्थिति को ध्यान में रखना शिक्षा संस्थान के लिए गैर-कानूनी होगा।
- आर्थिक रूप से कम साधन संपन्न विद्यार्थियों और ऐतिहासिक तथा सामाजिक दृष्टि से वंचित समूहों के विद्यार्थियों के लिए विस्तारित राष्ट्रीय छात्रवृत्ति योजना होनी चाहिए और उसके लिए धन की कमी नहीं रहनी चाहिए।

9. ठोस कार्रवाई: उच्च शिक्षा व्यवस्था का एक मुख्य लक्ष्य यह सुनिश्चित करना होना चाहिए कि आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से कम साधन संपन्न विद्यार्थियों के लिए शिक्षा की सुलभता और अधिक कारगर ढंग से बहुत ज़्यादा बढ़ाई जाए।

- आरक्षण आवश्यक है, लेकिन यह इस तरह की ठोस कार्रवाई का सिर्फ एक रूप और एक अंग है।
- शिक्षा की उपलब्धियों में विसंगतियाँ जाति और सामाजिक समूहों से तो संबद्ध हैं ही, लेकिन वे आमदनी, लिंग, क्षेत्र और निवास स्थान जैसे अन्य संकेतकों से भी गहराई से जुड़ी हुई हैं। ऐसा सार्थक और व्यापक ढाँचा विकसित करना जरूरी है जो मौजूदा भिन्नताओं के विविध आयामों का समाधान करे। उदाहरण के लिए विद्यार्थियों को अधिक अंक देने के लिए वंचना सूचकांक का इस्तेमाल किया जा सकता है और स्कूल परीक्षा में किसी विद्यार्थी के अंकों के पूरक के रूप में संचित अंकों का उपयोग किया जा सकता है।

राष्ट्रीय ज्ञान आयोग की सिफारिशों पर अमल के लिए तीन विभिन्न स्तरों पर कार्रवाई करनी होगी: मौजूदा व्यवस्थाओं के

भीतर सुधार, नीतियों में बदलाव और मौजूदा कानूनों या विधानों में संशोधन या नए कानून बनाना। प्रस्तावित परिवर्तनों को भी तीन अलग-अलग स्तरों पर लागू करना होगा: विश्वविद्यालय, राज्य सरकारे और केन्द्र सरकार।

यह समझना महत्वपूर्ण है कि भारत में उच्च शिक्षा के मामले में संकट बहुत गहरा है। अब इस संकट से व्यवस्थित ढंग से और सीधे ही दो-दो हाथ करने का समय आ गया है। इस पत्र में दी गई सिफारिशें एक महत्वपूर्ण शुरुआत का संकेत हैं। प्रस्तावित परिवर्तन स्थिति में वास्तविक बदलाव ला सकते हैं। यह सही है कि सुधार और बदलाव की प्रक्रिया निरंतर जारी रहती है। अभी बहुत कुछ करना बाकी है। राष्ट्रीय ज्ञान आयोग अगले कदमों पर विचार करता रहेगा, लेकिन उसका कहना है कि स्थिति पर तत्काल ध्यान देना जरूरी है, क्योंकि भारत का भविष्य इस पर निर्भर है। हमें तत्काल ही कदम उठाने होंगे।

भूमिका

समाज में शिक्षा का प्रसार उन देशों की सफलता की बुनियाद रहा है, जिनमें विकास का सिलसिला देर से शुरू हुआ था। विकास की प्रक्रिया में प्राइमरी शिक्षा परम आवश्यक है, क्योंकि वह आधार तैयार करती है, किन्तु उच्च शिक्षा भी उतनी ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह दूसरों के मुकाबले बढ़त दिलाती है और विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा के जीवन-प्राण हैं। आईआईटी और आईआईएम जैसे संस्थान पेशेवर शिक्षा में उत्कृष्टता के केन्द्र मूल्यवान सहयोगी तो हैं, लेकिन वे विश्वविद्यालयों का स्थान नहीं ले सकते, जिनमें आम जनता को शिक्षा के अवसर मिलते हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि उच्च शिक्षा ने स्वतंत्र भारत में आर्थिक विकास, सामाजिक प्रगति और राजनीति लोकतंत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया है। इसने अर्थव्यवस्था को गति प्रदान की है। इसने लोगों को सामाजिक अवसर दिए हैं, इसने हमारी राजनीतिक जीवन में सजग लोकतंत्र को बढ़ावा दिया है। इसने ज्ञानवान समाज की रचना के लिए प्रवेश द्वार उपलब्ध कराया है, किन्तु सिर्फ इसकी खूबियों पर ध्यान देना बहुत बड़ी भूल होगी। इसमें कुछ कमियाँ भी हैं, जो गंभीर चिंता पैदा करती हैं।

भारत में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में बहुत गहरा संकट है। यह अभी दिखाई नहीं दे रहा है, क्योंकि उत्कृष्टता के कुछ केन्द्र हैं, प्रतिभावान युवाओं का विशाल भंडार है और प्रवेश प्रक्रिया में जबर्दस्त मुकाबला होता है। कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों में गणराज्य के संस्थापकों ने 50 वर्ष पहले उच्च शिक्षा के लिए जो बीज बोए थे, हम आज उनका लाभ उठा रहे हैं। सच्चाई यह है कि हमें लंबा सफर तय करना है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश करने वाली हमारी 18-24 वर्ष के आयु वर्ग की आबादी का अनुपात लगभग 7 प्रतिशत है, जो एशिया के औसत का सिर्फ आधा है। विश्वविद्यालयों में उपलब्ध स्थानों की संख्या की दृष्टि से उच्च शिक्षा के लिए मौजूदा अवसर हमारी आवश्यकता के हिसाब से बिलकुल पर्याप्त नहीं है। इतना ही नहीं अधिकांश विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा के स्तर में जबर्दस्त सुधार की आवश्यकता है।

इतना तो स्पष्ट है कि भारत में उच्च शिक्षा व्यवस्था के सामने गंभीर चुनौतियाँ हैं। इसमें आमूलचूल बदलाव की जरूरत है ताकि हम शिक्षा का स्तर गिराए बिना कहीं बड़ी

संख्या में युवाओं को शिक्षित कर सकें। ऐसा करना बेहद आवश्यक है, क्योंकि 21वीं शताब्दी में अर्थव्यवस्था और समाज में बदलाव काफी हद तक हमारी जनता के बीच शिक्षा, विशेषकर उच्च शिक्षा के प्रसार और उसकी गुणवत्ता पर निर्भर करेगा। सबको समाहित करने वाला समाज ही ज्ञानवान समाज की बुनियाद बन सकता है।

भारत में उच्च शिक्षा के सामने मौजूद चुनौतियाँ एकदम स्पष्ट हैं। उच्च शिक्षा के लिए अवसरों का बड़े पैमाने पर विस्तार करना होगा। देश भर में 1500 विश्वविद्यालयों की आवश्यकता है, जिनकी मदद से भारत 2015 तक कम-से-कम 15 प्रतिशत का सकल भर्ती अनुपात हासिल कर सकेगा। प्रत्येक क्षेत्र में उच्च शिक्षा की क्वालिटी का औसत स्तर सुधारना भी उतना ही आवश्यक है। इसके साथ-साथ ही विश्व स्तर की ऐसी संस्थाएँ स्थापित करना भी आवश्यक है जो विश्व में उत्कृष्टता की मिसाल बन सकें। इन लक्ष्यों को हासिल करने की दिशा में यह जरूरी है कि समाज के सभी अंगों को शामिल करते हुए लोगों को उच्च शिक्षा की सुविधा सुलभ कराई जाए। इन लक्ष्यों को हासिल करने और सुलभता बढ़ाने से न सिर्फ हमारी अर्थव्यवस्था के लिए जरूरी कौशल और क्षमताएँ विकसित होंगी, बल्कि भारत को एक ज्ञानवान अर्थव्यवस्था और समाज के रूप को बदलने में भी मदद मिलेगी।

हम मानते हैं कि उच्च शिक्षा व्यवस्था में दीर्घकालिक दृष्टिकोण से सार्थक सुधार करना जटिल भी है और मुश्किल भी। किन्तु ऐसा करना परम आवश्यक है। हम इस सिलसिले में निम्नलिखित चरणों का सुझाव देते हैं। सबसे पहले मौजूदा सार्वजनिक विश्वविद्यालयों और अवर-स्नातक कॉलेजों में सुधार करना होगा। दूसरे, उच्च शिक्षा का संचालन करने वाले समूचे विनियमन ढाँचे को पूरी तरह बदलना होगा। तीसरे, उच्च शिक्षा में निवेश के वित्तपोषण के लिए हर संभव स्रोत को टटोलना होगा। चौथी महत्वपूर्ण बात यह है कि उच्च शिक्षा की क्वालिटी सुधारने के लिए सक्रिय रणनीतियों पर विचार किया जाए। पाँचवाँ चरण यह है कि अब राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों के रूप में नई संस्थाएँ खोलने का वक्त आ गया है, जो शिक्षा में उत्कृष्टता के केन्द्रों की मिसाल बन सकते हैं। छठा और अंतिम सुझाव यह है कि उच्च शिक्षा व्यवस्था का ढाँचा ऐसा बनाया जाए, जो समाज में हाशिए पर जी रहे और समाज से बहिष्कृत समूहों को शिक्षा सुलभ कराए।

1. विश्वविद्यालय

अर्थव्यवस्था और समाज में विश्वविद्यालयों की भूमिका निर्णायक होती है। वे ज्ञान उपलब्ध कराते हैं। वे ज्ञान बाँटते हैं। वे ज्ञान का प्रसार करते हैं। विश्वविद्यालयों का लचीला, अभिनव और रचनात्मक होना आवश्यक है। विश्वविद्यालयों का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि वे शिक्षक या विद्यार्थी दोनों में ही सर्वोत्तम प्रतिभा को आकर्षित करें। उनमें स्पर्धा करने की क्षमता और उत्कृष्टता प्राप्त करने की प्रेरणा होनी चाहिए। हम अपने मौजूदा विश्वविद्यालयों में सुधार किए बिना अपनी उच्च शिक्षा व्यवस्था में बदलाव की कल्पना भी नहीं कर सकते।

अतः भारत में विश्वविद्यालयों की स्थिति के बारे में गंभीर चिंता होना स्वाभाविक है। विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की भर्ती के लिए स्थान आवश्यकता से बहुत कम हैं। अधिकतर विश्वविद्यालयों में शिक्षा का स्तर अपेक्षा से बहुत नीचे है। हमारे विश्वविद्यालयों और बाहरी दुनिया के विश्वविद्यालयों के बीच अंतर बढ़ गया है। हमारे कुछ विश्वविद्यालय विश्व के सर्वोत्तम अर्थात् उच्चतम पचास के अन्तर्गत आते हैं। अगर हम अपने विश्वविद्यालयों की कमियों को समझना न चाहें तो भी उनके लक्षण साफ दिखाई दे रहे हैं। यह सच है कि हर जगह हर समस्या मौजूद नहीं है। कुछ अपवाद भी हैं। किन्तु निम्नलिखित समस्याएँ इतनी आम हैं कि उन पर चिंता होना स्वाभाविक है। सबसे पहले बात करें पाठ्यक्रम की तो उसमें दशकों से कोई बदलाव नहीं हुआ है, ज्ञान की बढ़ती सीमाओं की तो बात ही क्या है वह समय के साथ भी नहीं बदला है। दूसरे, विद्यार्थियों के ज्ञान मूल्यांकन की व्यवस्था में समझ की बजाय याददाश्त को महत्व दिया जाता है, इसलिए सीखने और सृजनात्मक क्षमताएँ कमजोर हैं। तीसरी महत्वपूर्ण समस्या माहौल की है, जो कक्षा से बाहर कुछ सीखने को बढ़ावा नहीं देता। आज भी विश्वविद्यालय सुबह 09.30 से दोपहर 01.30 के दायरे में बँधे हुए हैं। चौथी समस्या यह है कि कक्षाओं या परीक्षाओं के लिए कोई निश्चित कैलेंडर नहीं है। कभी-कभी तो निर्धारित कार्यक्रम इतनी बुरी तरह छिन्न-भिन्न हो जाता है कि कई स्थानों पर समय सारिणी में दी गई कक्षाएँ होती ही नहीं और परीक्षा के परिणाम 6 से 12 महीने बाद आते हैं। पाँचवीं समस्या यह है कि बुनियादी सुविधाएँ न सिर्फ नाकाफी हैं, बल्कि ढहने के कगार पर हैं। छठी समस्या यह है कि विभिन्न विषयों के बीच की सीमाएँ ऐसी दीवार बन गई हैं, जो नए विषयों या नए पाठ्यक्रमों के लिए प्रवेश में रुकावट डालती हैं, जबकि ज्ञान का सबसे तेजी से विकास विषयों की संधि पर हो रहा है। सातवीं समस्या यह है कि अनुसंधान को दिया जाने वाला महत्व धीरे-धीरे घटता जा रहा है। आठवीं समस्या यह है कि अनुसंधान की मात्रा वैसी नहीं रही, जैसी पहले हुआ करती थी। जिसकी झलक उसकी सामग्री की बारम्बारता और प्रकाशन के स्थान की

कोटि में मिलजी है कि शोध की क्वालिटी पहले जैसी नहीं रही। नौवीं समस्या यह है कि अधिकतर सार्वजनिक संस्थानों में जवाबदेही न के बराबर है, क्योंकि अच्छे कार्य निष्पादन के लिए कोई ईनाम नहीं मिलता और काम न करने पर कोई सजा भी नहीं मिलती। दसवीं समस्या यह है कि 50 वर्ष पहले प्रशासन का जो ढाँचा बनाया गया था, वह बदलते वक्त और परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है, बल्कि निहीत स्वार्थ व्यवस्था का मज़ाक बना देते हैं।

इस बात का पूरा निदान कर पाना काफी मुश्किल है कि हमारे विश्वविद्यालयों की मुख्य समस्या क्या है। हमारे विश्वविद्यालयों की हालत सुधारने के उपायों का सुझाव देना यदि नामुमकिन नहीं, तो मुश्किल जरूर है। इसके बावजूद यह स्पष्ट है कि उच्च शिक्षा की तस्वीर बदलने के किसी भी प्रयास में मौजूदा संस्थानों के सुधार को उसका एक अभिन्न अंग बनाया जाना चाहिए। हम मानते हैं कि यह कहना आसान है, लेकिन करना मुश्किल है। फिर भी हमें विश्वास है कि हमने जो रास्ते सुझाए हैं, उनके अनुसार निम्नलिखित क्षेत्रों में सुधार कर पाना न सिर्फ संभव है, बल्कि उससे स्थिति में बदलाव भी होगा।

संख्या और आकार: भारत में करीब 350 विश्वविद्यालय हैं। यह संख्या न तो उच्च शिक्षा की हमारी ज़रूरतों के हिसाब से पर्याप्त है और न ही चीन की तुलना में पर्याप्त है। चीन ने पिछले तीन वर्ष में 1250 नए विश्वविद्यालय खोलने की अनुमति दी है। हमारे कुछ विश्वविद्यालयों का आकार इतना बड़ा है कि उनमें शिक्षा के स्तर पर निगरानी रखना और सु-प्रशासन देना नामुमकिन है। हमें अधिक उपयुक्त आकार के तथापि और अधिक गतिशील विश्वविद्यालयों की स्थापना करने की ज़रूरत है। इसका निष्कर्ष सिर्फ यही नहीं है कि हमें 2015 तक देश भर में करीब 1500 विश्वविद्यालयों की आवश्यकता है, बल्कि हमें छोटे विश्वविद्यालयों की आवश्यकता है, जिनमें बदलाव आसान हो और जिनका प्रबंध भी आसानी से किया जा सके।

पाठ्यक्रम: विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रमों की विषय-वस्तु कई दशकों से नहीं बदली है। उसमें लगातार समय-समय पर सुधार और संशोधन आवश्यक है। बदलाव के विरोध से पनप रहे प्रतिरोध पर काबू पाना ज़रूरी है। विश्वविद्यालयों को तीन वर्ष में कम-से-कम एक बार अपने पाठ्यक्रम में संशोधन या फेर-बदल करना चाहिए। इन संशोधनों को अपनाने से पहले दूसरे विश्वविद्यालयों से इनकी समीक्षा कराई जानी चाहिए। इस तरह के संशोधन की प्रक्रिया चुस्त और विकेंद्रित होनी चाहिए, शिक्षकों को अधिक स्वायत्ता मिलनी चाहिए, और इसके लिए जहाँ कहीं आवश्यक हो विधान में बदलाव किया जाना चाहिए। मौजूदा व्यवस्थाएँ

समय पर या तेज़ी से पाठ्यक्रम में संशोधन में बड़ी रुकावट बन जाती हैं। जो विभाग या विश्वविद्यालय नियमित रूप से पाठ्यक्रमों में सुधार नहीं करते, उनके लिए दंड की कोई व्यवस्था होनी चाहिए। हमें यह समझना चाहिए कि विभागीय विभाजन के कारण विश्वविद्यालयों में नए पाठ्यक्रम या अभिनव पाठ्यक्रम शुरू कर पाना बहुत मुश्किल है। इस समस्या को सुलझाने के लिए उपयुक्त संस्थागत तंत्र की व्यवस्था होनी चाहिए।

आकलन: भारत में विश्वविद्यालयों में वार्षिक परीक्षाओं का स्वरूप ऐसा है, जो अकसर सिखाने और सीखने की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है, क्योंकि इसमें मनमाने ढंग से और बिना समझे और महत्वहीन सीखने के लिए ईनाम दिया जाता है। परीक्षा व्यवस्था में सुधार करना बहुत ज़रूरी है ताकि यह विद्यार्थियों की याददश्त के बजाय उनकी समझ की परीक्षा ले। विश्लेषण की क्षमताओं और रचनात्मक सोच को महत्व दिया जाना चाहिए। रटन्त विद्या को बढ़ावा नहीं दिया जाना चाहिए। विकेंद्रित परीक्षा व्यवस्था और छोटे विश्वविद्यालयों में ऐसे सुधार कर पाना अधिक व्यावहारिक होता है, किन्तु विद्यार्थियों की प्रतिभा और क्षमता का आकलन सिर्फ परीक्षाओं के आधार पर नहीं होना चाहिए। लगातार भीतरी आकलन चलते रहना चाहिए, जो शिक्षकों और विद्यार्थियों सभी को समान रूप से सशक्त बनाता है और सिखाने-सीखने की प्रक्रिया में नई जान डालता है। इस तरह भीतरी आकलन की व्यवस्था से विद्यार्थियों में विश्लेषक और रचनात्मक क्षमताओं को भी बढ़ावा मिलता है, जो विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित की जाने वाली वार्षिक परीक्षाओं में घुटकर रह जाती हैं। शुरू में भीतरी आकलन के लिए कुल अंकों में से 25 प्रतिशत अंक दिए जा सकते हैं और धीरे-धीरे उन्हें बढ़ाकर 50 प्रतिशत किया जा सकता है।

पाठ्यक्रम क्रेडिट: मौजूदा व्यवस्था बहुत कठोर है और इसमें विद्यार्थियों के लिए विकल्प बहुत कम है। जो विश्वविद्यालय छोटे हैं या सेमिस्टर व्यवस्था अपनाते हैं, उनमें लचक अधिक होती है। बड़े विश्वविद्यालयों में भी पाठ्यक्रमों के ढाँचों में अधिक विविधता और अधिक लचीलापन लाना आवश्यक है। यह पाठ्यक्रम क्रेडिट व्यवस्था अपनाने की दिशा में शुरुआत हो सकती है। इस व्यवस्था में डिग्री विभिन्न पाठ्यक्रमों में आवश्यक संख्या में क्रेडिट पाने के आधार पर दी जाती है। प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अपने चुने हुए विषय में न्यूनतम संख्या में क्रेडिट पाना अनिवार्य होना चाहिए। किन्तु बाकी क्रेडिट अन्य विषयों में पाने की छूट होनी चाहिए। विद्यार्थियों को बंधक बनाने की बजाय छूट देना ज़रूरी है।

अनुसंधान: हमने एकदम अलग अनुसंधान संस्थान स्थापित करने का प्रयास किया तथा यह सोचकर उन पर संसाधनों

की व्यवस्था कर दी कि अनुसंधान और शोध कार्य को विश्वविद्यालयों के दायरे से बाहर ले जाया जाना चाहिए। इस दौरान हम एक आवश्यक सिद्धांत भूल गए। शिक्षण और शोध दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं और दानों एक दूसरे को समृद्ध बनाते हैं। शोध और अनुसंधान का प्राकृतिक स्थान विश्वविद्यालय ही होता है। इतना ही नहीं, विश्वविद्यालयों में शैक्षिक उत्कृष्टता पाने के लिए अनुसंधान और शोध कार्य ज़रूरी है। अब समय आ गया है कि अतीत से चली आ रही धारा का रुख पलटा जाए और विश्वविद्यालयों को एक बार फिर शोध और अनुसंधान का केन्द्र बनाया जाए। इसके लिए संसाधनों के आवंटन, पुरस्कार व्यवस्था और सोच में बदलाव करना होगा। शोध और अनुसंधान के लिए काफी मात्रा में अनुदान आवंटित करना आवश्यक है। इस तरह के अनुदान की व्यवस्था स्पर्धा के आधार पर की जानी चाहिए और अनुदान के लिए नियम गैर-योजना और योजनागत अनुदान के सामान्य नियमों से भिन्न होने चाहिए।

शिक्षक: प्रतिभावान शिक्षकों को आकर्षित करने और उन्हें विश्वविद्यालयों में रोके रखने के लिए ठोस प्रयास किए जाने चाहिए। ऐसा करना आवश्यक है, क्योंकि कल शिक्षक बनने वाले प्रतिभावान विद्यार्थियों के सामने भारत में दूसरे पेशों और भारत से बाहर शिक्षा के पेशे में कहीं अधिक आकर्षक विकल्प उपलब्ध हैं। उन्हें कार्यालय के स्थान और शोध के लिए आवश्यक सुविधाओं और आवास के रूप में काम की उपयुक्त परिस्थितियाँ उपलब्ध कराना आवश्यक है। किन्तु हो सकता है कि इतना काफी न हो। इसके साथ-ही-साथ कार्य निष्पादन के लिए कुछ प्रोत्साहन और पुरस्कार की व्यवस्था भी करनी होगी। इस समस्या का एक और पहलू भी है। विश्वविद्यालय अपने विद्यार्थियों को चुनने की नीति के कारण अकसर अपने पुराने विद्यार्थियों पुत्र/पुत्रियों को ही चुनते हैं और सर्वोत्तम प्रतिभा का चुनाव नहीं कर पाते। इससे क्वालिटी गिरती है और विश्वविद्यालयों में भाई-भतीजावाद पनपता है। इसलिए विश्वविद्यालयों के बीच परस्पर आदान-प्रदान करने को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। विश्वविद्यालय के भीतर से भर्ती किए जाने वाले शिक्षकों के अनुपात पर आधे या एक-तिहाई की सीमा लगाई जा सकती है। इससे शिक्षकों की नियुक्ति में अधिक स्पर्धा आएगी और पारदर्शिता भी निश्चय ही बढ़ेगी।

धन की व्यवस्था: विश्वविद्यालयों में संसाधनों की गंभीर समस्या होने के कारण वित्तीय लचक बहुत कम रह जाती है। आमतौर पर रख-रखाव का 75 प्रतिशत हिस्सा वेतन और पेंशन पर खर्च हो जाता है। बाकी 25 प्रतिशत से कम से कम 15 प्रतिशत किराए, बिजली और टेलीफोन के बिलों और परीक्षाओं के आयोजन पर खर्च हो जाता है। बची-कुची 10 प्रतिशत से भी कम रकम विकास तो क्या रख-रखाव

के लिए भी पूरी नहीं पड़ती। प्रयोगशालाएँ और पुस्तकालय संकट में रहते हैं और इमारतें ढहती रहती हैं। इतना ही नहीं है। अधिकाँश विश्वविद्यालयों में योजना निवेश व्यय गैर-योजना रख-रखाव व्यय के पाँच प्रतिशत से भी कम होता है। कुल व्यय में इतने कम अनुपात में निवेश सिर्फ भविष्य को गिरवी रखने का काम कर सकता है और ऐसा ही हो रहा है। अब समय आ गया है कि विश्वविद्यालयों के लिए बजट नए सिरे से निर्धारित करने के बारे में ध्यान से सोचा जाए। कुछ धन विकास अनुदान और वेतन से भिन्न जरूरतों को पूरा करने के लिए आवंटित किया जाए। संसाधन आवंटन के नियमों के अन्तर्गत वेतन/पेंशन के लिए प्रावधान और रख-रखाव/विकास/निवेश के लिए प्रावधान के बीच बेहतर संतुलन रखा जाना चाहिए। इन नियमों के अंतर्गत इस बात का महत्व समझा जाना चाहिए कि उत्कृष्टता को बढ़ावा देने के लिए कम-से-कम मानकों और महत्वपूर्ण वरीयताओं को कायम रखना जरूरी है।

बुनियादी सुविधाएँ: सिखाने-सीखने की प्रक्रिया को सबसे सीधे ढंग से सहारा देने वाली बुनियादी सुविधाओं पर नियमित रूप से निगरानी रखना और उनमें सुधार करना आवश्यक है। इसके लिए खेल सुविधाओं और सभागारों तथा कक्षा के कमरों के अलावा प्रयोगशालाओं और पुस्तकालयों पर विशेष ध्यान देना होगा। यह जरूरी है कि विश्वविद्यालय अपने परिसर में सभी विद्यार्थियों और शिक्षकों को ब्रॉडबैंड कनेक्टिविटी की सुविधा प्रदान करें। इसके समानान्तर दाखिलों, प्रशासन और परीक्षाओं के लिए सूचना टेक्नॉलॉजी प्रणालियों और कैम्पस समुदायों के लिए अन्य उपयोगी वेब सेवाओं का इस्तेमाल भी किया जाना चाहिए। जितनी जल्दी हो सके विश्वविद्यालयों की नेटवर्किंग के लिए डिजिटल सुविधाओं की व्यवस्था की जानी चाहिए।

प्रशासन: विश्वविद्यालयों के प्रशासन के ढाँचे में सुधार करना तत्काल आवश्यक है। मौजूदा व्यवस्था में कई कमियाँ हैं। एक तरफ यह स्वायत्ता की रक्षा नहीं करता और दूसरी तरफ जवाबदेही को भी बढ़ावा नहीं देता। सरकारों के हस्तक्षेप और राजनीतिक प्रक्रिया की दखलंदाजी के कारण विश्वविद्यालयों की स्वायत्ता घट गई है। इस पर अंकुश लगाया जाना चाहिए। विश्वविद्यालयों में पारदर्शिता और जवाबदेही का भी अभाव है, जबकि इन दोनों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। सबके लिए एक-समान इलाज बता पाना बेहद मुश्किल है। फिर भी महत्वपूर्ण शुरुआत के लिए कुछ उपाय एकदम स्पष्ट हैं। सबसे पहले तो कुलपतियों की नियुक्ति खोज प्रक्रिया और सिर्फ साथियों के निर्णय पर आधारित होनी चाहिए। इसमें सरकार के किसी भी अंग का किसी तरह का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। नियुक्ति हो जाने के बाद कुलपतियों का

कार्यकाल छह वर्ष का होना चाहिए, क्योंकि अधिकाँश विश्वविद्यालयों में तीन वर्ष और केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में पाँच वर्ष का मौजूदा कार्यकाल पर्याप्त नहीं है। दूसरे, यूनिवर्सिटी कोर्ट्स, विद्वत् परिषदों और कार्यकारी परिषदों के कारण निर्णय लेने की प्रक्रिया धीमी होती है और कभी-कभी वे परिवर्तन में बाधक हो जाती हैं। 500 से ज़्यादा के आकार वाली यूनिवर्सिटी कोर्ट्स को समाप्त किया जा सकता है, क्योंकि अब उनकी कोई अहमियत नहीं रह गई है। बड़ी विद्वत् परिषदों की अकसर बैठकें नहीं होतीं। जब बैठकें होती हैं तब भी फैसले बहुत धीरे-धीरे लिए जाते हैं। इसलिए विद्वत् परिषदों के प्रतिनिधियों की स्थाई समितियाँ बनाई जानी चाहिए, जो जल्दी-जल्दी बैठकें करें और फैसले लें। ऐसी स्थिति में कुलपति को मुख्य कार्यकारी अधिकारी के रूप में काम करना चाहिए, जो कार्यकारी परिषद की सलाह और सहमति से प्रशासन चला सके और जिसके पास इसका पूरा अधिकार हो। कार्यकारी परिषद जवाबदेही के लिए आवश्यक नियंत्रण और संतुलन कायम करेगी। तीसरे, अब तक के अनुभवों से पता चलता है कि दबे पाँव राजनीति के दखल ने विश्वविद्यालयों का प्रबंध चलाना बेहद मुश्किल कर दिया है और बाहर से गैर-शैक्षिक दखलंदाजी ज़्यादा होने लगी है। इस समस्या को समझ कर न सिर्फ विश्वविद्यालय के भीतर बल्कि बाहर भी, खासकर सरकारों, संसद और विधानमंडलों और राजनीतिक दलों में व्यवस्थित ढंग से सुलझाया जाना चाहिए।

2. अवर-स्नातक कॉलेज

अवर-स्नातक स्तर की शिक्षा में करीब 85 प्रतिशत विद्यार्थी दाखिला लेते हैं। यह हमारी उच्च शिक्षा व्यवस्था का सबसे बड़ा अंग है। इस तरह की शिक्षा कॉलेजों के माध्यम से दी जाती है, जहाँ विद्यार्थी कला, विज्ञान या वाणिज्य विषयों में पहली डिग्री पाने के लिए दाखिला लेते हैं। देश में कुल मिलाकर करीब 17,700 स्नातक कॉलेज हैं। इनमें से सिर्फ 200 कॉलेज स्वायत्त हैं और बाकी 17,500 कॉलेज या तो 131 विश्वविद्यालयों से संबद्ध हैं या उनके घटक प्राप्त हैं। औसतन हर विश्वविद्यालय से जुड़े 100 से अधिक कॉलेज हैं, लेकिन कुछ विश्वविद्यालयों से संबद्ध कॉलेजों की संख्या तो 400 से भी ज़्यादा है।

अवर-स्नातक स्तर की शिक्षा के लिए संबद्ध कॉलेजों की यह व्यवस्था 50 वर्ष पहले भले ही उपयुक्त रही हो, लेकिन भविष्य तो क्या, आज भी यह न तो उपयुक्त है और न ही पर्याप्त। इसका प्रबंधक बोझिल है। सभी कॉलेजों में शिक्षा का न्यूनतम स्तर बनाए रखना बेहद मुश्किल है। इस समस्या के कम से कम तीन पहलू हैं। एक पहलू तो यह है कि यह विश्वविद्यालयों पर जबर्दस्त बोझ डालती है। उन्हें

इतनी बड़ी संख्या में अवर-स्नातक कॉलेजों में दाखिलों की देख-रेख करनी पड़ती है, पाठ्यक्रम तय करना पड़ता है और परीक्षाएँ करानी पड़ती है। असमान स्तर और भौगोलिक फैलाव के कारण समस्या और उलझ जाती है। दूसरा पहलू यह है कि अवर-स्नातक कॉलेज संबद्ध होने के कारण स्वायत्ता और स्थान की दृष्टि से बँधा हुआ महसूस करते हैं, जिसके कारण उनके लिए बदलाव को अपनाना, नए प्रयास करना और आगे बढ़ना मुश्किल हो जाता है। यह समस्या उन अवर-स्नातक कॉलेजों के लिए ज़्यादा गंभीर हो जाती है, जिनका स्तर अच्छा है, क्योंकि वहाँ शिक्षकों और विद्यार्थियों दोनों को सबसे धीमी चाल वाले कॉलेजों के साथ चलने पर मजबूर होना पड़ता है। जो अवर-स्नातक कॉलेज उतने अच्छे नहीं है या खराब हैं, उनके लिए भी समस्या है, क्योंकि विश्वविद्यालय उनकी विशेष आवश्यकताओं या विशेष समस्याओं पर ध्यान नहीं दे पाते। तीसरा पहलू यह है कि इतनी बड़ी संख्या में विद्यार्थियों के लिए पाठ्यक्रम तय करना और उनके निष्पादन का आकलन करना मुश्किल होता है, क्योंकि कॉलेज में प्रवेश से पहले स्कूल में उनके प्रदर्शन में बहुत अधिक अंतर रहता है। इस सच्चाई के कारण पाठ्यक्रम कम कठिन और परीक्षाएँ भी कम सख्त करनी पड़ती हैं। वास्तव में पाठ्यक्रमों और परीक्षाओं की रूप-रेखा इतने अधिक विद्यार्थियों के लिए एक समान रखने की बजाय लचीली बनानी पड़ती है।

विश्वविद्यालयों से संबद्ध अवर-स्नातक कॉलेजों की व्यवस्था में फेर-बदल करना तत्काल आवश्यक है। ऐसा करते समय मौजूदा अवर-स्नातक कॉलेजों और भविष्य में स्थापित किए जाने वाले अवर-स्नातक कॉलेजों के बीच भेद करना अत्यंत आवश्यक है। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि अवर-स्नातक कॉलेज भी उन्हीं समस्याओं से परेशान हैं, जिनके शिकार विश्वविद्यालय हैं।

इस समस्या का सबसे स्वाभाविक समाधान या तो अलग-अलग कॉलेजों को या कॉलेजों के समूहों को स्वायत्ता प्रदान करना है।

अलग-अलग कॉलेज: उन कॉलेजों को शिक्षा के स्व-शासन की दृष्टि से स्वायत्ता दी जा सकती है, जिन्होंने शिक्षा के मामले में उत्कृष्टता और कुशल प्रशासन की अपनी क्षमता साबित कर दी है। मौजूदा संबद्ध या घटक कॉलेजों को किसी पेशेवर प्रमाणीकरण संस्था द्वारा आकलन कराने के बाद विभिन्न चरणों में स्वायत्ता दी जा सकती है। इन कॉलेजों के निष्पादन की समीक्षा को संस्थागत रूप दिया जा सकता है और अगर वे शैक्षिक तथा प्रशासनिक निष्पादन के मापदंडों की कसौटी पर खरे उतरे तो उन्हें विश्वविद्यालय का दर्जा दिया जा सकता है। कॉलेज के अधिकारियों को

संसाधनों के भीतरी आवंटन के लिए वित्तीय स्वायत्ता दी जा सकती है। किन्तु वित्तीय साधन प्रदान करने के मौजूदा तरीकों का पालन करते रहना चाहिए। संचालन की दृष्टि से पाठ्यक्रमों के निर्धारण और विद्यार्थियों के मूल्यांकन स्वायत्ता प्रदान की जा सकती है।

कॉलेजों के समूह: समान स्तर या भौगोलिक निकटता जैसे मानदंडों के आधार पर चुने गए कॉलेजों के समूहों को स्वायत्ता दी जा सकती है। बाद में ये कॉलेज समूह बना सकते हैं, एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं और आपस में मिलकर अलग-अलग कोर्स पढ़ा सकते हैं। धीरे-धीरे इन समूहों को मिलाकर विश्वविद्यालय का दर्जा दिया जा सकता है। इन स्वायत्त समूहों में कोर्स क्रेडिट व्यवस्था अपनाई जा सकती है, जिसमें अलग-अलग कॉलेज क्रेडिट व्यवस्था पर आधारित कोर्स के लिए सेमिस्टर में पढ़ाई कराएँ और ये क्रेडिट सभी कॉलेजों में हस्तान्तरित किए जा सकें। सभी कॉलेजों के बीच कोर्स चलाने और समस्याओं को सुलझाने के लिए एक संस्थागत तंत्र बनाया जाना चाहिए, जिसकी समितियों में सबके लिए प्रतिनिधित्व का प्रावधान हो।

इस तरह के स्वायत्त कॉलेज या कॉलेजों के समूहों उन 1500 विश्वविद्यालयों के अंग बन जाएँगे, जिनकी 2015 तक स्थापना का प्रस्ताव हमने रखा है। किन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि यह एक सीमित समाधान है। इसमें दो समस्याएँ बड़ी स्पष्ट हैं।

पहली समस्या स्वायत्त कॉलेज मॉडल में विकल्प के रूप में स्वायत्ता देने की मुख्य-एजेंट समस्या है। कॉलेजों के प्रोत्साहनों और क्षमताओं के बीच अंतर करना आवश्यक है। जो कॉलेज स्वायत्त बनना चाहते हैं, लेकिन उसके हकदार नहीं हैं और जो कॉलेज स्वायत्त बन सकते हैं, लेकिन स्वायत्ता नहीं चाहते उनके बीच भी भेद करना होगा। जो कॉलेज स्वायत्त बनना चाहते हैं, लेकिन उसके लिए उपयुक्त नहीं है, उनके लिए कुछ ऐसे मानदंड बनाए जाने चाहिए, जिनसे तय हो सके कि उन्हें स्वायत्ता दी जाए या नहीं। इनमें शिक्षकों और विषयों की न्यूनतम संख्या, प्रशासन का स्तर, विद्यार्थियों की दृष्टि से पिछला अनुभव, शिक्षक और अनुसंधान, अनुदानों के उपयोग, लेखा-परीक्षा की नियमितता, कार्यालय संसाधन और लेखा व्यवस्था, विश्वविद्यालय प्रक्रियाओं में योगदान, बुनियादी सुविधाओं और अगर प्रमाणन एजेंसी से उपलब्ध रेटिंग हो तो उसके आधार पर प्रशासनिक क्षमता, जैसे मानदंड शामिल हैं। जो कॉलेज स्वायत्त बनने के हकदार हैं, लेकिन ऐसा नहीं चाहते, उनके लिए समुचित प्रोत्साहन तय किए जाने चाहिए, खासकर शिक्षकों को स्वायत्ता की दिशा में बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। धन और संसाधन जुटाने से जुड़े संस्थागत प्रोत्साहन और प्रोफेसरों के पदों, शोध

अनुदान और इधर-उधर जाने की अधिक आजादी सहित कर्मचारियों के लिए पेशेवर प्रोत्साहन दिए जाने चाहिए।

स्वायत्त कॉलेजों के मॉडलों के साथ दूसरी समस्या यह है कि इससे अवर-स्नातक कॉलेजों की सीमित संख्या या सीमित अनुपात को ही लाभ होगा। बहुत बड़ी संख्या में अवर-स्नातक कॉलेज इसके दायरे से बाहर रह जाएँगे, क्योंकि हो सकता है कि वे स्वायत्त होने या स्वायत्त समूह में शामिल होने में सक्षम न हों। इस समूह के लिए सहज समाधान यही होगा कि वे मौजूदा विश्वविद्यालयों से संबद्ध बने रहे। ऐसी स्थिति में न सिर्फ इन अवर-स्नातक कॉलेजों के लिए समस्या रहेगी, बल्कि इन्हें मान्यता देने वाले विश्वविद्यालय भी संकट में रहेंगे। इस सबके बावजूद यह भी सच है कि इनमें से कुछ अवर-स्नातक कॉलेज निर्धारित मानदंडों के आधार पर अपने मौजूदा विश्वविद्यालयों से ही संबद्ध रहेंगे। इस सिलसिले में दो अन्य संभावनाओं पर विचार किया जा सकता है।

पहली संभावना यह है कि इनमें से कुछ संबद्ध कॉलेजों को सामुदायिक कॉलेज बना दिया जाए। सामुदायिक कॉलेजों में दो वर्ष के पाठ्यक्रमों के जरिए व्यावसायिक शिक्षा और तीन वर्ष के पाठ्यक्रमों के जरिए औपचारिक शिक्षा दी जा सकती है। इस तरह विद्यार्थियों के एक वर्ग की ज़रूरतों को बेहतर ढंग से पूरा किया जा सकेगा। ये कॉलेज रोजगार-परक, कार्य-सम्बद्ध, कौशल आधारित और जीवन की ज़रूरतों के अनुरूप शिक्षा को बढ़ावा देने पर ध्यान दे सकते हैं। ये सामुदायिक कॉलेज वंचित वर्गों को संपूर्ण शिक्षा और रोजगार के लिए योग्यता प्राप्त करने का अनूठा अवसर प्रदान कर सकते हैं।

दूसरी संभावना यह है कि हम अवर-स्नातक शिक्षा के लिए एक केन्द्रीय बोर्ड और राज्य स्तर पर भी अवर-स्नातक शिक्षा बोर्ड बनाएँ, जो उन अवर-स्नातक कॉलेजों के लिए पाठ्यक्रम तय करेंगे और परीक्षाएँ आयोजित करेंगे, जो उनसे संबद्ध होंगे। यह दोनों बोर्ड शैक्षिक कार्य को प्रशासनिक कार्य से अलग रखेंगे और साथ ही क्वालिटी के प्रतिमान प्रदान करेंगे। इससे प्रशासन बहुत सरल हो जाएगा। हो सकता है कि कुछ मौजूदा अवर-स्नातक कॉलेज, खासकर अपने मूल विश्वविद्यालय से भौगोलिक दूरी पर स्थित स्नातक कॉलेज इन बोर्डों से संबद्ध होने का फैसला कर लें।

नए अवर-स्नातक कॉलेजों को उच्च शिक्षा में अवसरों के विस्तार का अभिन्न अंग बनना ही होगा। किन्तु यह नए कॉलेज कहाँ खोले जाएँगे। अपनी सफलता सिद्ध किए बिना स्वायत्ता पाना इनके लिए मुश्किल होगा। हो सकता है कि

इनमें से कुछ कॉलेज स्वायत्त कॉलेज के समूह में शामिल हो जाए, किन्तु यह स्थिति सामान्य की तुलना में अपवाद की होगी। वे मौजूदा विश्वविद्यालयों से भी संबद्ध नहीं हो सकेंगे, क्योंकि उन पर पहले ही बहुत ज़्यादा बोझ है। इसलिए नए स्नातक कॉलेजों के सामने तीन विकल्प हैं। पहला विकल्प यह है कि उन्हें सामुदायिक कॉलेज के रूप में खोला जाए। दूसरा विकल्प यह है कि वे केन्द्रीय अवर-स्नातक शिक्षा बोर्ड से या राज्य अवर-स्नातक शिक्षा बोर्ड से संबद्ध हो जाए। तीसरा विकल्प यह है कि वे नए स्थापित होने वाले नए विश्वविद्यालयों से संबद्ध हों।

अवर-स्नातक कॉलेजों के संदर्भ में प्रशासन, पाठ्यक्रम, परीक्षाओं, कोर्स क्रेडिट और सुलभता से जुड़े प्रश्न भी खड़े होंगे। इन पर इस नोट के पिछले खंड में विश्वविद्यालयों के संदर्भ में चर्चा की जा चुकी है।

3. विनियमन

एक स्वतंत्र उच्च शिक्षा विनियमन प्राधिकरण (आईआरएएच ई/इंडिपेंडेंट रेग्युलेटरी अथॉरिटी फॉर हायर एजुकेशन) की स्थापना की आवश्यकता साफ दिखाई देती है। इस तरह का विनियमन प्राधिकरण आवश्यक भी है और वांछनीय भी।

इसकी आवश्यकता के दो प्रमुख कारण हैं। पहला कारण यह है कि भारत में विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए संसद से कानून पास कराना ज़रूरी है। नए संस्थानों के लिए डीम्ड विश्वविद्यालय का दर्जा पाना और भी मुश्किल है। फिलहाल सिर्फ कानून के जरिए विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रावधान एक बड़ी बाधा है। इसके परिणामस्वरूप मौजूदा विश्वविद्यालयों का औसत आकार फैलता जा रहा है और उनकी क्वालिटी में लगातार गिरावट आ रही है। स्पर्धा के अभाव में समस्याएँ और बढ़ जाती हैं। दूसरी बात यह है कि जब हम उच्च शिक्षा व्यवस्था का दायरा फैलाना चाहते हैं तो निजी संस्थानों और सार्वजनिक निजी साझेदारी के लिए प्रवेश के नियमों की ज़रूरत होगी। इस उद्देश्य के लिए संस्थागत ढाँचा तुरंत स्थापित किया जाना चाहिए।

ऐसा करना चार महत्वपूर्ण कारणों से आवश्यक है। एक तो इससे हितों के बीच टकराव सबसे कम होगा, क्योंकि इसमें हितधारकों से दूरी बनेगी। दूसरे यह अधिक उपयुक्त हस्तक्षेपों की व्यवस्था के जरिए बहुत अधिक विनियमित लेकिन बहुत कम मौजूदा प्रशासनिक व्यवस्था की जगह लेगा। तीसरा कारण यह है कि यह मौजूदा व्यवस्था को तर्कसंगत बनाएगा, क्योंकि अभी कार्यक्षेत्र एक-दूसरे पर हावी और उलझे हुए हैं। चौथा कारण यह है कि इससे एक से अधिक विनियमन एजेंसियों की जगह एक बार अनुमति की व्यवस्था शुरू होगी।

उच्च शिक्षा में मौजूदा विनियमन व्यवस्था में कई खामियाँ हैं। प्रवेश की बाधाएँ बहुत ज्यादा हैं। प्रवेश की अनुमति देने की व्यवस्था बहुत जटिल है। प्रवेश के बाद भी अनेक नियमों का पालन करना पड़ता है, क्योंकि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग फीस से लेकर पाठ्यक्रम तक संस्थानों के हर पहलू को नियंत्रित करना चाहता है। यह व्यवस्था बेहद तर्कहीन सिद्धांतों पर भी आधारित है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम की धारा 3.1.2 (ए) के अनुसार अनुदान प्राप्ति की अनुमति केवल तभी दी जाएगी जब आयोग इस बात से संतुष्ट हो जाएगा कि राज्य में मौजूदा संस्थाएँ राज्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। उदाहरण के तौर पर पेशेवर शिक्षा के क्षेत्र में अन्य नियामक अकसर इन सिद्धांतों का एक-समान पालन नहीं करते। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब आवश्यक शिक्षकों, सुविधाओं या बुनियादी ढाँचे के बिना ही किसी महानगर के उपनगर में एक छोटे से मकान में चलने वाले इंजीनियरिंग कॉलेज या बिजनेस स्कूल को तत्काल मंजूरी दे दी गई, जबकि सुस्थापित विश्वविद्यालयों को इसी तरह की मंजूरी पाने में कठिनाई उठानी पड़ती है। ऐसे उदाहरण एक नहीं, अनेक हैं। इनसे साबित होता है कि मौजूदा विनियमन ढाँचे की जटिलता, बहुरूपता और अड़ियल रुख भारत में उच्च शिक्षा के अवसरों के विस्तार के लिए अनुकूल नहीं हैं।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मौजूदा विनियमन व्यवस्था उत्तम संस्थाओं की स्थापना में बाधक है, मौजूदा संस्थाओं में गलत जगहों पर बहुत अधिक नियंत्रण करती है और उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अभिनव या रचनात्मक सोच के लिए उपयुक्त नहीं है। अतः चुनौती ऐसी विनियमन व्यवस्था बनाने की है, जो न सिर्फ उत्तम संस्थानों की संख्या बढ़ाए, बल्कि उनके भीतर जवाबदेही को भी बढ़ावा दे। एक स्वतंत्र नियामक ऐसी व्यवस्था का आधार होना चाहिए।

प्रस्ताविक आईआरएएचई प्रवेश को नियमित करने वाले सिद्धांतों को युक्तिसंगत बनाएगा। इस प्रक्रिया के दो पहलू हैं:

नियमन किसका करना है और नियमन के लिए क्या सिद्धांत अपनाने हैं?

उच्च शिक्षा में नियामकों को पाँच काम करने होते हैं: (1) प्रवेश: डिग्री देने का लाइसेंस, (2) प्रमाणन: क्वालिटी के मानदंड तय करना, (3) सार्वजनिक धन का संवितरण, (4) सुलभता: फीस या टोस कार्रवाई, (5) लाइसेंस: व्यवसाय चुनने के लिए।

भारत शायद दुनिया का अकेला देश है, जहाँ इन चार या पाँच कार्यों का नियमन एक संस्था करती, अर्थात् विश्वविद्यालय अनुदान आयोग। आईआरएएचई के गठन

का उद्देश्य इन कार्यकलापों को अलग-अलग करना है। प्रस्तावित आईआरएएचई मापदंड तय करने और प्रवेश के बारे में फैसला करने के लिए जिम्मेदार होगा। इसके अलावा यह संस्था प्रमाणन के लिए एजेंसियों को लाइसेंस देगी। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की भूमिका सार्वजनिक धन के संवितरण तक सीमित रह जाएगी। सुलभता के मुद्दे आरक्षण के राज्य कानूनों और अन्य प्रकार की टोस कार्रवाई के तहत संचालित होंगे। कुछ संस्थानों में पेशेवर संगठन किसी भी व्यवसाय को करने की पात्रता की शर्तें तय कर सकते हैं। अन्य सभी विनियमन एजेंसियों, जैसे कि एआईसीटीई को समाप्त करना होगा, जबकि एमसीआई और बीसीआई की भूमिका पेशेवर संगठनों तक सीमित रह जाएगी। ये पेशेवर संगठन अपने-अपने पेशे में प्रवेश करने के इच्छुक व्यक्तियों को लाइसेंस देने के लिए देश भर में परीक्षाएँ आयोजित कर सकते हैं।

विनियमन का दूसरा पहलू विनियमन के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले सिद्धांत का है। आईआरएएचई विवेकाधीन नियंत्रणों के बजाय पारदर्शी मापदंडों के आधार पर नए संस्थान स्थापित करने के लिए पात्रता का निर्धारण करेगा। इसकी मुख्य भूमिका डिग्री प्रदान करने का लाइसेंस देते समय सारी छानबीन करने की होगी। ऐसा करते समय यह प्राधिकरण प्रस्तावित संस्था द्वारा निर्धारित मानदंड के अनुसार पेश की गई सूचना के आधार पर उसकी शैक्षिक विश्वसनीयता और वित्तीय व्यावहारिकता का आकलन करेगा। प्राधिकरण सार्वजनिक और निजी संस्थानों पर वही नियम लागू करेगा, जो घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों पर लागू किए जाएँगे।

आईआरएएचई की संरचना कुछ इस तरह होगी। इसका एक अध्यक्ष होगा और छह सदस्य होंगे। अध्यक्ष का कार्यकाल 6 वर्ष का होगा। सदस्यों का कार्यकाल भी 6 वर्ष का होगा। प्राधिकरण के एक-तिहाई सदस्य हर दो वर्ष में रिटायर हो जाएँगे। अध्यक्ष किसी भी विषय में प्रतिष्ठित शिक्षाविद होगा, जिसे उच्च शिक्षा में प्रशासन का अनुभव होगा। सदस्य निम्नलिखित विषयों से चुने गए प्रतिष्ठित शिक्षाविद होंगे: भौतिक विज्ञान, जीवन विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, मानविकी और इंजीनियरिंग, चिकित्सा, विधि या प्रबंधन जैसे पेशेवर विषय। आईआरएएचई में कुछ अंशकालिक सदस्य भी हो सकते हैं या प्राधिकरण को सलाह देने के लिए इनमें से हर एक विषय के विद्वानों की स्थाई समितियाँ भी बनाई जा सकती हैं। आईआरएएचई के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति प्रधानमंत्री द्वारा खोज समिति की सिफारिशों के आधार पर की जाएंगी।

आईआरएएचई की स्थापना संसद द्वारा पारित एक कानून के तहत होगी। यह एकमात्र एजेंसी होगी, जिसे उच्च

शिक्षा संस्थानों को डिग्री प्रदान करने का लाइसेंस देने का अधिकार होगा। यह प्राधिकरण मानदंडों की निगरानी करेगा और विवाद भी सुलझाएगा। इसे प्रमाणन एजेंसियों को लाइसेंस देने का अधिकार प्रदान करने के बारे में भी सोचा जाना चाहिए। आईआरएएचई को सरकार से दूरी बनाए रखते हुए सरकार के संबद्ध मंत्रालयों सहित सभी हितधारकों से स्वतंत्र रहकर काम करने की छूट देना ज़रूरी है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, एआईसीटीई, एमसीआई, और बीसीआई के अधिनियमों में संशोधन करना होगा। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की भूमिका उच्च शिक्षा में सार्वजनिक संस्थानों के लिए अनुदान संवितरण और उनके रख-रखाव तक सीमित कर दी जाएगी। एआईसीटीई, एमसीआई, और बीसीआई, अब तक प्रवेश विनियमन के जो काम करते थे, वे सब अब आईआरएएचई करेगा ताकि उनकी भूमिका पेशेवर संगठनों तक सीमित रह जाए। यह पेशेवर संगठन अपने-अपने पेशे में प्रवेश करने के इच्छुक व्यक्तियों को लाइसेंस देने के लिए देश भर में परीक्षाएँ आयोजित कर सकते हैं।

4. वित्त व्यवस्था

हमारी उच्च शिक्षा व्यवस्था का विस्तार आवश्यक भी है और वांछनीय भी, किन्तु यह धन की व्यवस्था किए बिना संभव नहीं है। उत्तम किस्म की शिक्षा की उपलब्धता बढ़ाना निवेश बढ़ाने पर निर्भर है, जिसके लिए वित्तीय संसाधनों की आवश्यकता है। वित्त की व्यवस्था करने के लिए अनेक स्रोत हैं।

सरकारी समर्थन: दुनिया में उच्च शिक्षा की कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है, जिसे पर्याप्त मात्रा में सार्वजनिक धन न मिलता हो। हमारी उच्च शिक्षा व्यवस्था को सुधारने की किसी भी रणनीति की बुनियाद सरकारी वित्तीय सहायता पर टिकी रहेगी। इस समय उच्च शिक्षा के लिए सकल घरेलू उत्पाद का जो 0.7 प्रतिशत हिस्सा दिया जाता है, वह किसी भी तरह से पर्याप्त नहीं है। पिछले एक दशक में वास्तविक दृष्टि से देखें तो कहा जा सकता है कि सामूहिक रूप से और प्रति विद्यार्थी के हिसाब से उच्च शिक्षा के लिए आवंटित संसाधनों में उल्लेखनीय गिरावट आई है। आदर्श स्थिति में उच्च शिक्षा के लिए सरकारी समर्थन सकल घरेलू उत्पाद का यदि दो प्रतिशत नहीं, तो कम-से-कम डेढ़ प्रतिशत होना चाहिए, जबकि शिक्षा के लिए कुल बजट सकल घरेलू उत्पाद का छह प्रतिशत है। यह कहना आसान है, लेकिन करना मुश्किल है। फिर भी सरकार को कोशिश करनी चाहिए कि 2012 तक यह स्तर हासिल हो जाए। सरकार की ओर से इतना वित्तीय समर्थन भी उच्च शिक्षा में आवश्यक विस्तार के लिए पर्याप्त नहीं है। अतः सार्वजनिक व्यय में वृद्धि की पूरकता के लिए विभिन्न संभावनाओं की तलाश करना आवश्यक है।

संपत्तियों का बेहतर प्रबंध: अधिकतर सार्वजनिक विश्वविद्यालयों के पास भूमि के रूप में संसाधनों का विशाल भंडार है, जिसे अब तक छुआ नहीं गया है। वास्तव में देखें तो थोड़ी-सी सूझबूझ से हमारे अनेक विश्वविद्यालयों को भूमि अनुदान विश्वविद्यालयों से मिलते-जुलते संस्थानों में बदला जा सकता है। अतः हर विश्वविद्यालय एक अभिनव संपत्ति प्रबंध योजना बना सकता है। इस तरह की योजनाएँ विश्वविद्यालयों के उद्देश्यों के अनुरूप होनी चाहिए। किन्तु फिलहाल विश्वविद्यालयों के पास ऐसी कोई योजना नहीं है। विश्वविद्यालयों की भौतिक संपत्तियों के इस्तेमाल के बारे में गंभीरता से सोचने की भी बहुत गुँजाइश है। विश्वविद्यालयों द्वारा अपनी भूमि का इस्तेमाल करके धन जुटाने के वास्ते नियम बनाए जा सकते हैं और मापदंड तय किए जा सकते हैं।

फीस को युक्तिसंगत बनाना: हमारे विश्वविद्यालयों में कुल खर्च में फीस का औसत हिस्सा दस प्रतिशत से भी कम है। अधिकतर विश्वविद्यालयों में दशकों में फीस से कोई बदलाव नहीं आया है। सिद्धांत रूप में विश्वविद्यालयों को फीस तय करने की आजादी है, किन्तु व्यावहारिक रूप में विश्वविद्यालयों ने इस आजादी का इस्तेमाल नहीं किया है, क्योंकि कुछ तो शिक्षा की सुलभता को लेकर वास्तविक चिंताएँ हैं, लेकिन इसकी बड़ी वजह राजनीतिक प्रक्रिया में लोकप्रिय फैसलों की मजबूरी है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने आमदनी और खर्च के बीच की खाई पाटने के लिए अनुदान सहायता देने का जो तरीका अपनाया है उसने समस्या और बढ़ा दी है। विश्वविद्यालयों या कॉलेजों के लिए ऊँची फीस के जरिए आमदनी बढ़ाने में कोई फायदा नज़र नहीं आता, क्योंकि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (या राज्य सरकार) से मिलने वाले अनुदान में से वह रकम घटा दी जाएगी। साधनों की जाँच किए बिना सार्वजनिक विश्वविद्यालयों में फीस का स्तर कम रखने से उन लोगों को असीमित लाभ हुआ है, जिन्हें इसकी आवश्यकता नहीं थी। किन्तु निजी संस्थानों और विदेशी संस्थानों पर बाजार की क्षमता के अनुसार फीस लेने की कोई पाबंदी नहीं है। अब समय आ गया है कि हम इस बारे में दोबारा विचार करें, क्योंकि फीस को युक्तिसंगत बनाने के सिवाय कोई विकल्प नहीं है। फीस का स्तर हमारे विश्वविद्यालयों को तय करना है, लेकिन नियम के मुताबिक फीस से विश्वविद्यालयों के कुल खर्च का कम-से-कम 20 प्रतिशत हिस्सा पूरा चाहिए। इसके अलावा मूल्य सूचकांक को समाहित करके हर दो वर्ष में फीस में फेर-बदल किया जाना चाहिए। समय-समय पर इस तरह के छोटे-छोटे फेर-बदल को लंबे समय के बाद एक मुश्त बड़े बदलाव की बजाय ज़्यादा आसानी से स्वीकार कर लिया जाएगा। फीस को युक्तिसंगत बनाने की इस प्रक्रिया पर दो शर्तें लागू होनी चाहिए: एक तो यह है कि ज़रूरतमंद विद्यार्थियों को फीस माफी के साथ खर्च पूरा

करने के लिए छात्रवृत्ति दी जाए; और दूसरे विश्वविद्यालय फीस बढ़ाकर जो संसाधन जुटाते हैं, उसकी सज़ा के तौर पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को अनुदान सहायता में से उतनी रकम नहीं काटनी चाहिए।

परोपकारी दान: यह तो स्पष्ट है कि हमने इस सँभावना को नहीं टटोला है। वास्तव में 1950 के दशक में उच्च शिक्षा के कुल खर्च में इस तरह के योगदान का अनुपात 12 प्रतिशत से अधिक हुआ करता था, लेकिन 1990 के दशक में यह घटकर 3 प्रतिशत से भी कम रह गया है। विश्वविद्यालयों और दान देने वालों के लिए प्रोत्साहनों में बदलाव के जरिए दान की इस परंपरा को जीवित रखना संभव होना चाहिए। मौजूदा व्यवस्था में दान देने में कोई लाभ होना तो दूर, बल्कि नुकसान ही होता है। विश्वविद्यालय अगर अन्य स्रोतों से साधन जुटाते हैं तो वह रकम उनकी अनुदान सहायता में से काट ली जाती है, जबकि वास्तव में हमें इसका उलटा करना चाहिए। जो विश्वविद्यालय दूसरे स्रोतों से साधन जुटाते हैं उन्हें उसके बराबर अनुदान सहायता देकर पुरस्कृत किया जाना चाहिए। इस समय कर कानून और ट्रस्ट कानून दोनों ही हतोत्साहक हैं। विश्वविद्यालयों के कोष को सिर्फ निश्चित प्रतिभूतियों में ही लगाया जा सकता है, जहाँ आमदनी इतनी कम है कि वे मुद्रास्फीति की दरों की बराबरी भी मुश्किल से कर पाते हैं। इतना ही नहीं विश्वविद्यालयों के प्रबंधन ट्रस्ट को कोष से होने वाली आमदनी का 85 प्रतिशत हिस्सा उसी वर्ष खर्च करना ज़रूरी है। इस तरह से उस आमदनी का सिर्फ 15 प्रतिशत हिस्सा ही कोष बनाने में इस्तेमाल किया जा सकता है। इन कानूनों में बदलाव किया जाना चाहिए ताकि विश्वविद्यालय अपनी पसंद के वित्तीय साधनों में निवेश कर सकें और इस प्रकार होने वाली आमदनी से कोष एक बना सकें।

अन्य स्रोत: यह स्वाभाविक है कि विश्वविद्यालयों की सोच कारोबारी नहीं होनी चाहिए। किन्तु पूर्व विद्यार्थियों से अंशदान, लाइसेंस फीस या उपयोगकर्ता शुल्क (बाहर के लोगों द्वारा विश्वविद्यालय की सुविधाओं के उपयोग पर लगने वाला शुल्क) जैसे अन्य साधनों का उपयोग करने में समझदारी भी होगी और अक्लमंदी भी। हमें एक ऐसा सहायक संस्थागत तंत्र भी स्थापित करना चाहिए, जिससे विश्वविद्यालय इस काम में पेशेवर कंपनियों की मदद ले सकें। पूर्व विद्यार्थियों से संसाधन जुटाने का काम भी शिक्षक नहीं कर सकते, क्योंकि इसके लिए विशेष प्रतिभा और अनुभव की ज़रूरत होती है। इस समय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अन्य साधनों से धन जुटाने वाले विश्वविद्यालयों को सज़ा देता है और वे जितना धन जुटाते हैं, उतनी राशि उनकी अनुदान-सहायता में से काट ली जाती है। संसाधन जुटाने के लिए विश्वविद्यालयों को दंड देने की बजाए आयोग को

उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए। इसके अलावा विश्वविद्यालयों को इतनी स्वायत्ता और छूट होनी चाहिए कि वे उपयुक्त संस्थागत तंत्र बनाकर या उनका इस्तेमाल करके दूसरी जगहों से संसाधन जुटा सकें।

निजी निवेश: तीन पेशों – इंजीनियरिंग, चिकित्सा और प्रबंधन – में शिक्षा का इतना निजीकरण हो चुका है कि दो तिहाई से तीन चौथाई सीटें निजी संस्थानों में हैं। किन्तु विश्वविद्यालयों में जहाँ हमारे 70 प्रतिशत से अधिक विद्यार्थी पढ़ते हैं, निजी निवेश लगभग शून्य है। उच्च शिक्षा के अवसरों का दायरा बढ़ाने के लिए उसमें निजी निवेश को प्रोत्साहित करना आवश्यक है। हमें यह समझना चाहिए कि दुनिया में सबसे नेक इरादे के बावजूद इस समय आवश्यक पैमाने पर उच्च शिक्षा के अवसरों के विस्तार के लिए सरकारी साधनों से पर्याप्त मात्रा में धन नहीं जुटाया जा सकता।

सार्वजनिक निजी साझीदारी: निजी निवेश (मुनाफे के लिए नहीं) को अधिक मात्रा में आकर्षित करने के लिए सार्वजनिक वित्त पोषक का लाभ प्रदान करना, विशेषकर भूमि अनुदान के रूप में रियायत देना, संभव हो सकता है। भूमि के आवंटन की मौजूदा व्यवस्था में राजनीतिक संरक्षण का हाथ रहता है। इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में नेक इरादे से आने वाले उद्यमी हतोत्साहित होते हैं और ज़मीन-जायदाद के कारोबारी भेष बदलकर इस व्यावसाय में आ जाते हैं। सिद्धांत रूप में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में सार्वजनिक-निजी भागीदारी से न सिर्फ और अधिक आईआईटी तथा आईआईएम खोलना संभव है, बल्कि अधिक संख्या में विश्वविद्यालय भी स्थापित किए जा सकते हैं। इस व्यवस्था में ज़मीन सरकार देती है और धन की व्यवस्था निजी क्षेत्र करता है। इस तरह की सार्वजनिक-निजी भागीदारी से विश्वविद्यालय और उद्योग जगत के बीच संपर्क बढ़ने से शिक्षण और अनुसंधान को भी मज़बूती मिलती है।

अंतर्राष्ट्रीय विद्यार्थी: भारत आज अंतर्राष्ट्रीय विद्यार्थियों के लिए उतना आकर्षक शिक्षा केन्द्र भी नहीं रहा है, जितना तीस वर्ष पहले हुआ करता था। अब हमें उच्च शिक्षा के लिए विदेशी विद्यार्थियों को भारत की तरफ आकर्षित करने के ठोस प्रयास करने चाहिए। इससे हमारा शैक्षिक माहौल समृद्ध होगा और क्वालिटी भी सुधरेगी। साथ ही हमें पर्याप्त मात्रा में धन भी प्राप्त होगा। अगर 50,000 विदेशी छात्रों से औसतन 10,000 अमरीकी डॉलर प्रति वर्ष की दर से फीस ली जाए तो करीब आधा अरब अमरीकी अरब डॉलर यानि मौजूदा विनिमय दर के हिसाब से प्रति वर्ष 2300 करोड़ रुपए की आमदनी होगी। सिक्के का दूसरा पहलू शायद इससे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण है। अनुमान है कि भारत

के 1,60,000 विद्यार्थी विदेशों में पढ़ते हैं। अगर फीस और रहन-सहन पर प्रति विद्यार्थी वार्षिक खर्च औसतन 25,000 अमरीकी डॉलर हो तो भारतीय विद्यार्थी विदेशों में प्रति वर्ष मौजूदा विनिमय दरों के हिसाब से चार अरब अमरीकी डॉलर, यानि 18,400 करोड़ रुपए खर्च कर रहे हैं। अगर हम अपने देश में उच्च शिक्षा व्यवस्था की क्वालिटी सुधारने की दिशा में काम करें और विद्यार्थियों के लिए स्थान बढ़ा दें तो वित्तीय साधनों का एक विशाल स्रोत हमें मिल सकता है।

5. क्वालिटी

उच्च शिक्षा के लिए स्वतंत्र नियामक की स्थापना, मौजूदा सार्वजनिक विश्वविद्यालयों की स्थिति सुधारने और राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों की स्थापना से कुल मिलाकर उच्च शिक्षा का स्तर ऊपर उठाने में मदद मिलेगी। किन्तु इसके साथ ही कुछ ऐसे कदम उठाने होंगे, जो उच्च शिक्षा में क्वालिटी को बढ़ावा दे सकेंगे।

जवाबदेही: उच्च शिक्षा की क्वालिटी कई कारकों पर निर्भर है। किन्तु इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक हर स्तर पर जवाबदेही है। अतः उच्च शिक्षा व्यवस्था को बाहरी दुनिया के प्रति और व्यवस्था के भीतर भी जवाबदेह होना चाहिए। विश्वविद्यालयों की जवाबदेही का अर्थ शासन का नियंत्रण नहीं समझना चाहिए। नियमों और शर्तों पर आधारित संस्थागत तंत्र इस काम के लिए सबसे असरदार व्यवस्था है। समाज के प्रति जवाबदेही का वास्तविक उद्देश्य शासन की शक्ति बढ़ाने के बजाय विद्यार्थियों को फैसेल लेने लायक समर्थ बनाना होना चाहिए। के निर्धारित नियम या निरीक्षण नियंत्रण के साधन हैं। हमें ऐसी व्यवस्था अपनाने की आवश्यकता है, जिसमें विद्यार्थी या उनके माता-पिता विश्वविद्यालयों का चुनाव कर सकें और उनकी सेवाएँ ले सकें।

स्पर्धा: उच्च शिक्षा की सुलभता की कमी जवाबदेही की प्रक्रिया में एक बड़ी बाधा है। जब विद्यार्थियों के पास विकल्प अपेक्षाकृत कम होते हैं तो उन पर संस्थानों का अंकुश बढ़ जाता है। विद्यार्थियों को विकल्प प्रदान करने और संस्थाओं के बीच स्पर्धा पैदा करने के लिए उच्च शिक्षा सुविधाओं का विस्तार जवाबदेही बढ़ाने के लिए बेहद आवश्यक है। भारत के भीतर संस्थानों के बीच इस तरह की स्पर्धा बेहद आवश्यक है, किन्तु भारत के बाहर से मात्रा से ज़्यादा गुणवत्ता के आधार पर मिलने वाली स्पर्धा के महत्व को कम नहीं आँका जाना चाहिए। भारत में विदेशी संस्थाओं इस प्रयोजनार्थ के प्रवेश और विदेश में भारतीय संस्थानों के प्रचार-प्रसार के लिए उपयुक्त नीति अवश्य बनानी चाहिए। इस तरह की नीतियों में हमेशा यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि भारत आने वाली अच्छी संस्थाओं को प्रोत्साहन मिले और

उन संस्थाओं को कम रियायतें मिले, जिनका स्तर उतना अच्छा नहीं है। मौजूदा व्यवस्था इसके विपरीत है। निचले स्तर वाली संस्थाएँ भीड़ लगा देती हैं, जबकि प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय इस सबसे दूर रहते हैं, क्योंकि वे स्वायत्ता चाहते हैं और खुद अपने लिए प्रतिमान स्थापित करना चाहते हैं। किन्तु सबके लिए समानता का स्तर सुनिश्चित होना चाहिए और घरेलू संस्थानों पर जो सारे नियम लागू होते हैं वही नियम विदेशी संस्थानों पर लागू होने चाहिए। इसके साथ ही साथ ऐसी नीतियाँ अपनाई जानी चाहिए, जो भारतीय संस्थानों को विदेशों में अपने परिसर खोलने के लिए हतोत्साहित करने की बजाय प्रोत्साहित करे। यह परिसर कारोबार के अवसर के रूप में नहीं, बल्कि शिक्षा के क्षेत्र में उत्कृष्टता पाने की होड़ में स्पर्धा के अवसरों के रूप में खोले जाने चाहिए। यह बात सही है कि आज भी और भविष्य में भी विदेशों में शिक्षा संस्थानों का प्रसार घरेलू संस्थानों और व्यवस्था की कीमत पर नहीं होना चाहिए।

प्रमाणन: अभी तक हमारे देश में सरकारी नियामकों के अधिकार बढ़ाकर जवाबदेही पैदा करने की कोशिश की गई है, लेकिन इससे उच्च शिक्षा की क्वालिटी सुधारने पर कुछ ज़्यादा असर नहीं पड़ा है। इसके लिए नेशनल एक्स्ट्रीमिशन एंड असेसमेंट काउंसिल का ही उदाहरण लें। इस व्यवस्था की तीन विशेषताएँ ऐसी हैं, जिन्होंने इसकी साख बेहद कम कर दी है। सबसे पहली विशेषता यह है कि इसमें सिर्फ एक संस्था यानि एनएएसी को प्रमाणन का एकाधिकार मिल गया है। दूसरे एनएएसी के पास सभी संस्थानों का प्रमाणन करने की क्षमता नहीं है। इसने अब तक कुल संस्थानों में से लगभग 10 प्रतिशत का आकलन किया है। तीसरी विशेषता यह है कि एनएएसी की कार्यविधि में उसकी मनमर्जी बहुत अधिक चलती है। शासन द्वारा स्थापित एक संस्था को सारे अधिकार देने के बजाय आईआरएएचई को यह अधिकार दिया जाना चाहिए कि वह संस्थानों की रेटिंग करने के लिए सार्वजनिक और निजी प्रमाणन एजेंसियों को लाइसेंस दे। नियामक इन एजेंसियों के मापदंड तय कर सकता है। इसके साथ-साथ सभी शिक्षा संस्थानों के प्रमाणन के स्रोत और स्तर सहित पूरी जानकारी देने के लिए कड़े नियम भी बनाए जाने चाहिए, उच्च शिक्षा, विशेषकर निजी क्षेत्र में उच्च शिक्षा की तेजी से हो रही वृद्धि ने एक विश्वसनीय प्रमाणन प्रक्रिया के जरिए विद्यार्थियों और माता-पिता को विश्वसनीय जानकारी प्रदान करने की जबर्दस्त ज़रूरत पैदा कर दी है। इस व्यवस्था की मदद के लिए उच्च शिक्षा व्यवस्था में स्व-नियामक संस्थाएँ बनाई जा सकती हैं और अंतर्राष्ट्रीय प्रमाणन तंत्रों से मान्यता प्राप्त करने की आजादी दी जा सकती है।

भीतरी प्रणालियाँ: अधिकाँश विश्वविद्यालयों में जवाबदेही के किसी भी तंत्र में विद्यार्थियों को सबसे कम भूमिका दी जाती है, जबकि सबसे ज़्यादा उन्हीं का हित जुड़ा रहता है। बेशक, विद्यार्थियों के मूल्यांकन का उपयोग सावधानी से किया जाना चाहिए, फिर भी उन्हें जवाबदेही के बुनियादी उपायों का अंग बनाया जा सकता है, जिससे कम-से-कम यह तो पता चल सकेगा कि कक्षाएँ समय-सारणी के अनुसार होती हैं या नहीं। इतना ही नहीं, पाठ्यक्रमों और शिक्षकों का मूल्यांकन विद्यार्थियों से कराने की भी आवश्यकता है, जैसे कि हमें शिक्षकों का मूल्यांकन दूसरे शिक्षकों से कराने की ज़रूरत है। मूल्यांकन की इस तरह की भीतरी व्यवस्था सिखाने-सीखने की प्रक्रिया में जवाबदेही को मज़बूत करेंगी। इन्हें विश्वविद्यालय तंत्र के अन्य पहलुओं में जवाबदेही के लिए संस्थागत तंत्र के साथ अवश्य जोड़ा जाना चाहिए।

सूचना: लगभग हर जगह जन-जन को सूचना सुलभ कराना जवाबदेही का एक प्रमुख स्रोत है। उच्च शिक्षा को इसका अपवाद नहीं होना चाहिए। उच्च शिक्षा प्रदान करने वाले विश्वविद्यालयों और संस्थानों के लिए सूचना देने के कुछ नियम होने चाहिए। उन्हें अपनी वित्तीय स्थिति, भौतिक संपत्तियों, प्रमाणन रेटिंग, प्रवेश के नियमों, शिक्षकों के पदों, शिक्षा के पाठ्यक्रम और अन्य बातों के बारे में बुनियादी जानकारी जनता के सामने रखनी चाहिए। इससे विद्यार्थियों और माता-पिता की शक्ति बढ़ेगी और वे पूरी जानकारी के आधार पर विकल्प चुन सकेंगे। सूचना, स्पर्धा और बढ़ती सफ़ाई के मिलन से जवाबदेही का अंतर कुछ कम हो सकेगा।

प्रोत्साहन: हम अगर अच्छा निष्पादन न करने के लिए दंड नहीं दे सकते तो कम-से-कम अच्छा प्रदर्शन करने के लिए पुरस्कार तो दे सकते हैं। हमें यह समझना चाहिए कि विश्वविद्यालयों का तंत्र सरकारों और कंपनियों की क्रमबद्ध ढाँचे से अलग होता है। प्रोत्साहनों का जाल कहीं ज़्यादा कोमल होता है। इसके बावजूद अच्छे-से-अच्छे प्रतिभावान शिक्षकों को आकर्षित करने और उन्हें रोके रखने के साधन के रूप में विश्वविद्यालय के भीतर और विश्वविद्यालयों के बीच वेतन भिन्नता के बारे में सोचने का समय आ गया है। एक ही विश्वविद्यालय के भीतर शिक्षकों के बीच वेतन भिन्नता से उन्हीं विभागों में शिक्षकों के लिए अवसरों की लागत की झलक भी मिलनी चाहिए। इस तरह उन विषयों में भी प्रतिभावान शिक्षकों को रोके रखने में मदद मिलेगी, जिनमें अन्य विषयों की तुलना में बाजार में कहीं ज़्यादा पारिश्रमिक मिलता है। वेतन भिन्नता की सुविधा से कुछ विश्वविद्यालय कुछ विषयों में उत्कृष्टता के केन्द्र स्थापित कर सकते हैं। साथ ही यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि समाज विज्ञान और मानविकी तथा बुनियादी विज्ञान जैसे अच्छी उदार शिक्षा के लिए आवश्यक विषयों में शिक्षकों

और विद्यार्थियों दोनों को आकर्षित करने के लिए उपयुक्त प्रोत्साहन दिए जाएँ, क्योंकि बाजार में इन विषयों की उतनी अच्छी माँग होना आवश्यक नहीं है। विश्वविद्यालयों के भीतर और उनके बीच इस तरह की वेतन भिन्नता बहुत अधिक हुए बिना असरदार हो सकती है। फेक्ल्टी के सदस्यों के बीच वेतन भिन्नता का अधिकतम अनुपात तय करने के लिए एक अच्छा कारण मौजूद है ताकि प्रोफेसर वर्ग की पहचान को कोई खतरा न हो। यह सच है कि विश्वविद्यालय दूसरी जगहों के वेतन का मुकाबला नहीं कर सकते, फिर भी सबके लिए ठीक-ठाक न्यूनतम राशि और अच्छा प्रदर्शन करने वालों के लिए विशेष राशि प्रदान करने की कोशिश की जानी चाहिए। इसके अलावा मकान, शिक्षण और अनुसंधान के लिए अच्छी सुविधाओं और शिक्षणोत्तर पेशेवर गतिविधियों जैसे अन्य प्रोत्साहनों के बारे में सोचना भी महत्वपूर्ण है, बशर्ते कि इनसे संस्थान की बुनियादी ज़िम्मेदारियों पर कोई असर न पड़ता हो।

विभिन्नता: हमें यह मानना होगा कि उच्च शिक्षा की किसी भी व्यवस्था में विविधता और बहुलता तो होगी ही। इसलिए भारत जैसे विशाल देश में हम सबके लिए एक समान नीति का सिद्धांत नहीं अपना सकते। हमें विविधता को फलने-फूलने का अवसर देना होगा। इसके अनेक पहलू हो सकते हैं, जैसे, पाठ्यक्रम, विशेषज्ञता, संस्था का ढाँचा, विद्यार्थियों का स्वरूप आदि-आदि। इसी तरह विभिन्नता को अगर सहज न माने तो भी यह अनिवार्य है। हम भले ही इसे न माने, लेकिन ऐसी भिन्नता एक सच्चाई है। विद्यार्थियों और माता-पिता को जो भी जानकारी मिलती है, उसके आधार पर वे अपनी धारणाएँ बना लेते हैं और मन-ही-मन संस्थानों का क्रम तय करके चुनाव करते हैं। हमारी बहुलता की भावना में इस तरह की विविधता और भिन्नता की उपेक्षा करने या उससे भागने की बजाय उसे स्वीकार करना चाहिए। यह दुनिया में हर उच्च शिक्षा व्यवस्था की विशेषता है। उच्च शिक्षा का अर्थ उत्कृष्टता की तलाश है। इसका थोड़ा-बहुत अर्थ हमेशा समान स्तर पाने के बजाए कुछ विशेष उपलब्धि पाने का भी है। उत्कृष्ट संस्थान वे महत्वपूर्ण शिखर हैं, जो औसत को बढ़ा देते हैं। वे ऐसे रोल मॉडल भी हैं, जिनका दूसरे अनुसरण करना चाहते हैं। इस तरह के रोल मॉडल बन जाने वाले संस्थान दूसरे चुने हुए संस्थानों के संरक्षक और मार्गदर्शक भी बन सकते हैं।

6. राष्ट्रीय विश्वविद्यालय

भारत में युवाओं की तेजी से बढ़ती आबादी के लिए सकल भर्ती अनुपात में जबर्दस्त छल्लाँग लगाने के लिए उच्च शिक्षा में सीटों की संख्या बहुत अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है। वैसे तो ये काम शिक्षा के मौजूदा बुनियादी ढाँचे का विस्तार करके सहजता से किया जा सकता है, किन्तु उच्च शिक्षा

की क्वालिटी और मानकों के बारे में समझ में आए बुनियादी बदलाव के कारण एकदम नए संस्थानों की स्थापना की आवश्यकता महसूस होती है, जिन पर मौजूदा संस्थागत और विनियामक ढाँचे का कोई अंकुश न हो। आयोग की सिफारिश है कि ऐसे 50 राष्ट्रीय विश्वविद्यालय खोले जाएँ जो उच्च स्तर की शिक्षा प्रदान कर सकें। विश्वविद्यालय बाकी देश के लिए मिसाल बनकर विद्यार्थियों को मानविकी समाज विज्ञान, बुनियादी विज्ञान, वाणिज्य सहित विभिन्न विषयों और पेशेवर विषयों में अवर-स्नातक और स्नातकोत्तर दोनों स्तरों की शिक्षा प्रदान करेंगे। 50 की यह संख्या दीर्घकालिक लक्ष्य है। अगले तीन वर्ष में कम-से-कम दस ऐसे विश्वविद्यालयों की स्थापना को महत्वपूर्ण शुरू आत माना जाएगा। यह बात ध्यान रखने लायक है कि सभी राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों का नया होना आवश्यक नहीं है। कुछ मौजूदा विश्वविद्यालयों को कड़ी चयन प्रक्रिया के आधार पर राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों का रूप दिया जा सकता है। यह प्रक्रिया दूसरों के लिए मिसाल बन सकती है। यह बात सच है कि इन विश्वविद्यालयों की स्थापना के लिए अगर पर्याप्त संख्या में शिक्षक उपलब्ध न हुए तो मानव संसाधन की समस्या आ सकती है। किन्तु शैक्षिक उत्कृष्टता के ऐसे केन्द्रों में उन प्रतिभाओं को भी आकर्षित किया जा सकता है, जो भारत में दूसरे पेशे का या भारत से बाहर शिक्षा के पेशे का चुनाव करते हैं।

राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना दो तरह से की जा सकती है। एक तो सरकार द्वारा या फिर किसी निजी प्रायोजक संस्थान द्वारा। यह निजी संस्था कोई सोसाइटी, परोपकारी ट्रस्ट या धारा 25 के अंतर्गत कंपनी बनाकर। दुनिया भर में विश्वविद्यालयों के संचालन के लिए सार्वजनिक धन बेहद महत्वपूर्ण होता है। अतः अधिकतर नए विश्वविद्यालयों को शुरू में सरकार की ओर से काफी वित्तीय मदद की ज़रूरत होगी। प्रत्येक विश्वविद्यालय को उसकी स्थान की ज़रूरतों से फालतू सार्वजनिक भूमि का आवंटन किया जाना चाहिए। फालतू भूमि बाद में आमदनी पैदा करने का स्रोत बन सकती है। विश्वविद्यालय की बढ़ती प्रतिष्ठा के साथ उसकी कीमत भी बढ़ती जाएगी। अगर विश्वविद्यालय निजी रूप से स्थापित परोपकारी ट्रस्ट ने खोला है तो मौजूदा आय कर कानूनों में कुछ छूट देने की ज़रूरत पड़ेगी, जिससे एक बड़ा कोष बनाने को प्रोत्साहन दिया जा सके। विशेष तौर पर किसी भी कालावधि में आय का उपयोग करने पर कोई पाबंदी नहीं होनी चाहिए। ट्रस्टों को अपने कोष अपनी पसंद के वित्तीय साधनों में लगाने की अनुमति होनी चाहिए और पूँजिगत संपत्तियों की बिक्री से प्राप्त धन को पूँजिगत लाभ कर से छूट मिलनी चाहिए। इन विश्वविद्यालयों को आवश्यकता पड़ने पर निजी कोष प्रबंधकों की सेवाएँ लेकर अपनी पसंद के वित्तीय साधनों में निवेश की स्वायत्ता मिलनी

चाहिए। इसके अलावा प्रयोगशालाओं, पुस्तकालयों, कक्षा के कमरों और अन्य सुविधाओं जैसी भौतिक संपत्तियों के अधिकतम लाभकारी प्रबंध के लिए भी उपयुक्त तंत्र की स्थापना करना आवश्यक है। इन विश्वविद्यालयों को विद्यार्थियों की फीस का स्तर तय करने और आमदनी के दूसरे साधनों का उपयोग करने के लायक स्वायत्ता मिलनी चाहिए। इन साधनों में उद्योगों के साथ सहयोग और विदेशों से सहयोग के अलावा विश्वविद्यालय की सुविधाओं का वाणिज्यिक उपयोग और पूर्व विद्यार्थियों के नेटवर्क शामिल हैं।

राष्ट्रीय ज्ञान आयोग का प्रस्ताव है कि राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की भर्ती अखिल भारतीय स्तर पर की जाए। वे आवश्यकता से बँधे दाखिले का सिद्धांत अपनाएँ। इस तरह आवेदक की पैसे देने की क्षमता या अक्षमता का उसे प्रवेश देने के विश्वविद्यालय के फैसले पर कोई असर नहीं पड़ेगा। किसी भी विद्यार्थी को एक बार प्रवेश देने के बाद विश्वविद्यालय को यह ध्यान रखना होगा कि उसे वित्तीय कठिनाई के कारण अपनी पढ़ाई न छोड़नी पड़े। आर्थिक रूप से पिछड़े विद्यार्थियों के लिए अनेक छात्रवृत्तियों, फीस माफी, एक मुश्त सहायता और पुरस्कारों की आवश्यकता पड़ेगी। अवर-स्नातक स्तर पर एक राष्ट्रव्यापी परीक्षा होनी चाहिए, जिसमें एक स्वतंत्र परीक्षा संस्था आवेदक की मौखिक, मात्रात्मक और विश्लेषण संबंधी क्षमताओं का तटस्था से आकलन किया जाएगा। विद्यार्थियों को प्रवेश 12वीं कक्षा के परिणामों, राष्ट्रव्यापी परीक्षा में मिले अंकों, लिखित कार्य और व्यक्तिगत वक्तव्यों सहित आवेदन सामग्री और इंटरव्यू के आधार पर दिया जाना चाहिए। स्नातकोत्तर स्तर पर प्रवेश आवेदक के शैक्षिक रिकॉर्ड, आवेदन सामग्री, इंटरव्यू और ऐसे शैक्षिक या पेशेवर संदर्भों के आधार पर दिया जाएगा जिनसे संबद्ध विषय में आगे पढ़ने की उसकी योग्यता का संकेत मिलता हो।

राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों में स्नातक डिग्री की अवधि तीन वर्ष होगी ताकि भारत के दूसरे विश्वविद्यालयों में स्नातक पाठ्यक्रमों की अवधि से समानता हो सके। पहले वर्ष में विद्यार्थियों को फाउंडेशन, विश्लेषण और साधन कोर्स पढ़ने का अवसर मिलेगा ताकि दूसरे वर्ष में वे विशेष विषय का चुनाव कर सकें। दूसरे वर्ष के अंत में उन्हें एक समन्वित पंचवर्षीय स्नातकोत्तर डिग्री की पढ़ाई पूरी करने का विकल्प भी दिया जाना चाहिए। डिग्रियाँ विभिन्न पाठ्यक्रमों में अपेक्षित संख्या में क्रेडिट प्राप्त करने के बाद दी जानी चाहिए। हर विद्यार्थी को अपने चुने हुए विषय में न्यूनतम संख्या में क्रेडिट पाने होंगे और उसे बाकी क्रेडिट अन्य विषयों के कोर्स से पाने की स्वतंत्रता होगी। अतः शिक्षा वर्ष में सेमिस्टर की व्यवस्था होगी और हर कोर्स के अंत में शिक्षक ही अपने विद्यार्थियों का मूल्यांकन करेंगे। एक राष्ट्रीय

विश्वविद्यालय से दूसरे राष्ट्रीय विश्वविद्यालय को क्रेडिटों का हस्तांतरण किया जा सकेगा। शिक्षा के पारंपरिक विषयों, रोजगार परख विशेष क्षेत्रों और विभिन्न क्षेत्रों में दक्षता के लिए कई तरह के पाठ्यक्रम चुनने की सुविधा होगी। विभिन्न विषयों में हो रहे बदलावों और मौजूदा घटनाओं को ध्यान में रखते हुए हर वर्ष पाठ्यक्रम में संशोधन किया जाएगा। जो विभाग लगातार दो वर्ष तक अपने पाठ्यक्रमों में सुधार नहीं करेंगे उनसे इसका कारण पूछा जाना चाहिए। विद्यार्थियों को कुछ क्रेडिट अंकों के बदले निजी कंपनियों या शोध संस्थानों में इंटरशिप करने का विकल्प दिया जाना चाहिए।

इन राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों में शिक्षकों की सामर्थ्य को अधिकतम स्तर पर लाने के लिए नियुक्ति और प्रोत्साहनों की उपयुक्त व्यवस्था की आवश्यकता है। राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों के बीच और विभिन्न विभागों के बीच भी वेतन भिन्नता की गुँजाइश होनी चाहिए। समय-समय पर शोध के परिणामों की समीक्षा और विद्यार्थियों द्वारा किए गए मूल्यांकन के आधार पर शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी होनी चाहिए। सबसे विशिष्ट शिक्षकों को अवर-स्नातक पाठ्यक्रम पढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। कैरियर में उन्नति की कोई योजना नहीं होनी चाहिए और हर स्तर पर नियुक्तियाँ खुली स्पर्धा से होनी चाहिए। किसी भी फैकल्टी में पदों की कुल संख्या भले ही निश्चित कर दी जाए, किन्तु इस बारे में पूरी छूट होनी चाहिए कि किस स्तर पर फैकल्टी की नियुक्तियाँ की जाए ताकि प्रतिभावान शिक्षकों की प्रगति में खाली स्थानों की संख्या के कारण कोई बाधा न आए। राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों का ऊँचा स्तर बनाए रखने के लिए शिक्षकों के प्रदर्शन और प्रगति की निगरानी और मूल्यांकन करने का तंत्र होना चाहिए। इसमें एक-दूसरे विश्वविद्यालयों के शिक्षकों द्वारा समीक्षा की व्यवस्था भी की जा सकती है। इस तरह के मूल्यांकनों की प्रक्रिया और परिणाम सर्व-सुलभ और पारदर्शी होंगे।

इन विश्वविद्यालयों के शोध तथा अनुसंधानों के परिणाम भारत के सामाजिक-आर्थिक विकास और विज्ञान तथा टेक्नॉलॉजी में प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। शिक्षण और अनुसंधान, विश्वविद्यालयों और उद्योग तथा विश्वविद्यालयों और अनुसंधान प्रयोगशालाओं के बीच मज़बूत संबंध स्थापित होने चाहिए।

राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों में अलग-अलग विभाग होंगे, लेकिन वे किसी कॉलेज को मान्यता नहीं देंगे। प्रत्येक विभाग अवर-स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम चलाएगा, जहाँ कहीं संभव होगा गैर शिक्षण गतिविधियों के लिए बाहरी संस्थाओं की मदद ली जानी चाहिए और गैर-शिक्षण तथा शिक्षण कर्मचारियों के बीच 2:1 का अधिकतम अनुपात

रखा जाना चाहिए। प्रत्येक विश्वविद्यालय को फैकल्टी, कर्मचारियों, शिक्षकों और लोगों की शिकायतों के निपटान के लिए एक भीतरी लोकपाल की नियुक्ति करनी चाहिए। जहाँ तक हो सके प्रशासनिक प्रक्रियाओं को सूचना और संचार टेक्नॉलॉजी का उपयोग करते हुए, चुस्त, पारदर्शी और जवाबदेह बनाया जाना चाहिए।

7. सुलभता

शिक्षा सामाजिक अवसर उत्पन्न करके हर वर्ग को समाहित करने का आवश्यक तंत्र उपलब्ध कराती है। अतः यह जरूरी है कि जहाँ हम यह ध्यान रखें कि किसी विद्यार्थी को वित्तीय कठिनाई के कारण उच्च शिक्षा पाने के अवसर से वंचित न रहना पड़े, वहीं आर्थिक और ऐतिहासिक दृष्टि से समाज के पिछड़े वर्गों के विद्यार्थियों के लिए शिक्षा की सुलभता बहुत अधिक प्रभावकारी ढंग से बढ़ाई जाए।

उच्च शिक्षा में आर्थिक कठिनाइयों का समाधान उच्च शिक्षा पाने के इच्छुक सभी विद्यार्थियों के लिए वित्तीय सुविधाएँ जुटाकर किया जा सकता है। इसके दो तरीके हो सकते हैं एक तो आवश्यकता से बँधी प्रवेश नीति अपनाई जाए। यह नीति अपनाने के बाद अगर कोई शिक्षा संस्थान विद्यार्थी को प्रवेश देने या न देने का फैसला उसकी वित्तीय स्थिति के आधार पर करता है तो यह फैसला गैर-कानूनी होगा। हर संस्थान यह लक्ष्य हासिल करने के लिए तरह-तरह के साधन अपना सकता है। वह चाहे तो छात्रवृत्तियों की व्यवस्था करे या संपन्न छात्रों से साधन लेकर कमजोर वर्ग के छात्रों की मदद करे। इसके अलावा शिक्षा संस्थानों को अपनी पसंद से फीस तय करने की आजादी दी जानी चाहिए, बशर्ते कि कम-से-कम दो बैंक उस संस्थान में प्रवेश की पुष्टि के सिवाय और कोई जमानत लिए बिना शिक्षा की पूरी लागत के लिए ऋण देने को तैयार हों। शिक्षा की लागत में सिर्फ फीस ही शामिल नहीं है, बल्कि छात्रावास और भोजन की फीस तथा अध्ययन के कोर्स से जुड़े दूसरे खर्चों सहित रहन-सहन के उचित खर्च भी उसमें शामिल हैं। वाणिज्यिक बैंक खासकर गैर-पेशेवर पाठ्यक्रमों में आर्थिक रूप से वंचित विद्यार्थियों को कर्ज देने में आनाकानी कर सकते हैं इसलिए आर्थिक रूप से वंचित विद्यार्थियों और ऐतिहासिक दृष्टि से समाज के पिछड़े वर्गों के विद्यार्थियों के लिए ऐसी विस्तृत राष्ट्रीय छात्रवृत्ति योजना बनाई जानी चाहिए, जिसमें धन की कोई कमी न हो। इनमें ग्रामीण और पिछड़े क्षेत्रों के विद्यार्थियों का भी विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए। इस प्रस्ताव की सफलता सरकार की ओर से उदार समर्थन पर निर्भर है। उदाहरण के लिए सरकार को ऐसे विद्यार्थियों के लिए करीब एक लाख छात्रवृत्तियाँ उपलब्ध कराने की कोशिश करनी चाहिए। यह छात्रवृत्तियाँ ऐसे स्तर पर निर्धारित की

जानी चाहिए, जिससे विद्यार्थी अपनी पसंद के किसी भी संस्थान में प्रवेश ले सकें।

समाज में हाशिए पर जी रहे और समाज से बहिष्कृत समूहों को भी मुख्य धारा से जोड़ने के लिए ठोस और अधिक सक्रिय कदम उठाए जाने चाहिए। आरक्षण आवश्यक है, किन्तु वह इस ठोस कार्रवाई का सिर्फ एक अंग और एक रूप है। शिक्षा की उपलब्धियों में विसंगतियाँ जाति और सामाजिक समूहों से जुड़ी होने के साथ-साथ उनका आमदनी, लिंग, क्षेत्र और निवास स्थान जैसे अन्य संकेतकों से भी गहरा संबंध है। कुछ किस्म के स्कूलों से आने वाले विद्यार्थियों के लिए उँचे स्तर की उच्च शिक्षा की सुलभता और सीमित हो जाती है। इससे साबित होता है कि शिक्षा के अवसरों से वंचना बहुआयामी समस्या है और विद्यार्थियों के सामने मौजूद वंचना के अलग-अलग स्तरों पर ध्यान देना ज़रूरी है। एक सार्थक और व्यापक ढाँचा समाज में मौजूद बहुआयामी विभिन्नताओं से निपटने में कारगर हो सकता है। उदाहरण के लिए वंचना सूचकांक विद्यार्थियों को अधिक अंक दिला सकता है और ऐसे विद्यार्थियों को स्कूल परीक्षा में मिले अंकों के साथ संचित अंक भी जोड़े जा सकते हैं। वंचना सूचकांक से मिले अंक जोड़ने के बाद सभी विद्यार्थी प्रवेश की होड़ में हिस्सा ले सकते हैं।

यह संकेतक ऐसे होने चाहिए जिन्हें आसानी से पहचाना जा सके और जिनकी आसानी से पुष्टि हो सके, तभी व्यवस्था कारगर ढंग से काम कर सकेगी। इनमें स्कूल स्तर पर और उच्च शिक्षा में प्रवेश के लिए आवेदन करते समय विद्यार्थियों के सामने आने वाली विभिन्न प्रकार की वंचनाओं को शामिल किया जाना चाहिए। यह व्यवस्था दो तरह से उपयोगी है। इसमें एक तरफ विभिन्न वंचनाओं का ध्यान रखा जाता है और दूसरी तरफ यह भी सुनिश्चित किया जाता है कि आरक्षित श्रेणी का ऐसा विद्यार्थी जो अन्य लाभ ले चुका है उसे प्रवेश के समय बहुत अधिक वरीयता न मिलने पाए। इस तरह के सूचकांक से मापे जाने की ज़रूरत वाले पिछड़ेपन के स्पष्ट संकेतकों में सामाजिक पृष्ठभूमि, जिसमें जाति (क्षेत्रीय विभिन्नताओं को ध्यान में रखते हुए), धर्म और लिंग; परिवार का शैक्षिक इतिहास; परिवार की आमदनी; स्कूल की किस्म, जिसमें सरकारी और निजी स्कूलों और विभिन्न स्थानों तथा शिक्षा के विभिन्न माध्यमों वाले स्कूलों के बीच भेद किया जाए; निवास स्थान, जिसमें शहरी और ग्रामीण इलाकों के बीच भेद किया जाए; और जिलों को बुनियादी सुविधाओं या सामाजिक लाभों की सुलभता के संकेतक के अनुसार छाँट कर क्षेत्रीय वंचना का ध्यान रखा जाए और शारीरिक अपंगता शामिल हो सकते हैं।